

(आनन्दवनग्रन्थमालायाश्चतुर्विंशं कुसुमम्)

दि व्य र स त र ङ्गि णी

(संक्षिप्तकादम्बिनीसहिता)

म० मं० स्वामी श्रीकाशिकानन्दजी महाराज

(आनन्दवनग्रन्थमालायाश्चतुर्विंशं कुसुमम्)

दिव्यरसतरङ्गिणी

(संक्षिप्तकादम्बिनीसहिता)

म० मं० स्वामी श्रीकाशिकानन्दजी महाराज

प्रकाशक
स्वामी काशिकानन्दजी ट्रस्ट

मूल्य अजिल्द : १२.००
सजिल्द : १८.००

प्रथमावृत्ति. ११००
सन् : १९८६



प्राप्तिस्थान :
आनन्दवन आश्रम
स्वामी विवेकानन्द रोड
कांदीवली (पश्चिम)
बम्बई–४०००६७



श्रीदक्षिणामूर्त्तिमठ
मिश्रपोखरा, वाराणसी

मुद्रक
मोहन लाल आर्य
वाराणसी मुद्रण संस्थान
डी० ५१/९२, सूरजकुण्ड, वाराणसी



आमुख

भक्ति साहित्य का उद्गम मानव विकास के साथ-साथ में ही हुआ है। सनातन सिद्धान्त के अनुसार अनादि सिद्ध तथा अर्वाचीन मतानुसार भी सर्वाधिक प्राचीन साहित्य वेद है। वेदों में भी ऋग्वेद को अति प्राचीन सभी आधुनिक विवेचक मानते हैं। ऋग्वेद की प्रथम ऋचा ही भक्ति से प्रारम्भ होती है। "अग्निमीडे पुरोहितं" इस प्रथम ऋचा में अग्नि की स्तुति का कथन अन्तः स्थित भक्ति भावना का द्योतक है तथा बाह्य स्तुतिरूप भक्ति का प्रदर्शक है। भक्ति भावना के विना स्तुति सम्भव नहीं है। बाह्य भय लोभादि के कारण राज प्रभृतियों की स्तुति की बात अलग है। वहां प्रत्यक्षतः परिणाम सामने हैं। अतः मिथ्या स्तुति सम्भव है। अग्नि से न भय है और भय होने पर भी वह स्तुति निवर्त्य नहीं है। लोभादि की भी वही बात है। यदि अग्नि में स्थित किसी दिव्य देव की कल्पना कर उससे भय या उसके प्रसाद से प्राप्य वस्तु में लोभ कहा जाय तो यह भी मानना पड़ेगा कि वह सर्वज्ञ होने से अज्ञ परहृदयानभिज्ञ राजप्रभृति के समान मिथ्यास्तुति से प्रसादनीय नहीं है। उसे रक्षक सर्वाभीष्टप्रद मातृपितृस्थानीय मान कर ही स्तुति करना सम्भव है। "देवं" इत्यादि विशेषणों से इसी अर्थ की पुष्टि होती है। सर्वज्ञ शर्वभक्तिमान सर्वाभीष्टप्रद व्यापक परमात्मा के रूप में समग्र वेदों में परमेश्वर की स्तुति उपलब्ध है। वही भक्ति साहित्य का मूल स्रोत है।

वेदों के बाद उपनिषदें आती हैं। यद्यपि उपनिषदें भी अनादिसिद्ध वेद स्वरूप ही हैं। तथापि प्रायः उपनिषदें ब्राह्मणग्रन्थान्तर्गत हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थ एवं वैदिक ग्रंथों का व्याख्यान-व्याख्येय भाव माना ही गया है। अतः वस्तुतः अनादि होने पर भो प्रातीतिक पौर्वापर्य है हो। जैसे वेदान्त में अविद्या तथा जीवेश्वर भेद दोनों अनादि होने पर भी जीवेश्वर भेद अविद्या प्रयुक्त होने से उनमें प्रातातिक पौर्वापर्य होता है। वेद एवं उपनिषदादि अनादि हैं या नहीं इसकी चर्चा हम अन्यत्र कर चुके हैं। अतः यहाँ उसे उठाना आवश्यक नहीं, अप्रसंगिक भी होगा। उपनिषदों में ज्ञान की प्रधानता है। यद्यपि उपनिषदों में भी उपासना की वात आती है। किन्तु अधिकतर प्रत्ययावृत्ति रूपो उपासना का वर्णन होने से वहां भक्ति का अस्तित्व नगण्य है। "उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः" इत्यादि औपासनिक ब्राह्मण वाक्यों में अश्वपृष्ठ पर आकाश दृष्टि करना आदि उपासना बतायी है। वहां प्रेमलक्षण भक्ति का कोई उपयोग प्रतीत नहीं होता। अर्थात् चित्त की एकाग्रता के लिये या फल विशेष की प्राप्ति के लिये दर्शायी गयी औपनिषद उपासनायें विवेच्य भक्ति रूप नहीं है। उन्हें केवल ज्ञानसाधनात्मक क्रियाकलाप मात्र कह सकते हैं। बल्कि भक्ति-प्रेम आदि नाम भी "यस्य देवे परा भक्तिः" इत्यादि इने गिने स्थानों में ही आते हैं।

वस्तुतः ज्ञान और प्रेम सामान्य रुप से प्राणिमात्र में ही विद्यमान है। या यूं कहिये कि ज्ञान और प्रेम का समाहार ही जीवन है। पशु आदि सब में सामान्य रूप से दोनों देखने में आते हैं। इनमें प्रेम विवेचनीय न होकर स्वभावतः उद्भावनीय तत्त्व है। विवेचनीय तो ज्ञान है। क्योंकि

ज्ञान में विपरीतार्थता प्रायः सम्भावित है उसकी निवृत्ति विवेचना से होती है। उसके साथ में ओत-प्रोत हो कर, प्रेम चलता है। प्रेम होने पर विवेचना में प्रवृत्ति होती है। विवेचन होने पर यथार्थ वस्तु विषयक ज्ञान होता है तो प्रेम स्वतः यथार्थ विषयक हो जाता है। इसी आधार पर "यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" इस श्रुति में भक्ति का प्रकाशसाधनरूपेण वर्णन किया और भक्ति-दर्शनकारों ने 'तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके" इस प्रकार साध्यरूपेण निरूपण किया। जैसा भी हो, उपनिषदों में प्रेम-भक्ति का विवरण शून्य-प्राय है। अतएव उपनिषद्वाक्यार्थनिर्णयात्मक ब्रह्मसूत्रों को भक्तिपरक सिद्ध करने का प्रयास भी केवल मताग्रहमात्र है।

पुराणों में भक्ति का निरूपण तथा उद्भावन दोनों ही विपुल रूप से हुए हैं। ज्ञानविवेचना भी वहां पुष्कल रूपेण है। और यही पुराणों का मुख्य लक्ष्य भी है। अत एव ऐतिहासिक घटनाओं के वर्णन में पुराणों का मुख्य तात्पर्य है ही नहीं। काकतालीय घुणाक्षरादि न्याय से या स्वाभाविक रूप से इतिहास वर्णन आ गया यह अलग बात है। अतएव भागवत की यह उक्ति याद रखने योग्य है कि

कथा इमरास्ते कथिता महीयसां विताय लोकेषु यशः परेयुषाम्।
विज्ञानवैराग्यविवक्षया विभो वचोविभूतीर्न तु पारमार्थ्यम्॥

यहां वैराग्य पद से संसार-वैराग्य विवक्षित होने से स्वतः सिद्ध प्रेम का परमात्मविषयकत्व होना आर्थिकार्थ की प्राप्ति है। चूंकि भक्ति का विवेक पुराणों में है अत एव भक्ति दर्शनों का प्रादुर्भाव पुराणोत्तर काल में ही हुआ। फिर विवेचनीय विषयों का आधिक्य न होने से भाष्यादि से दर्शन विस्तार

भी अधिक नहीं हुआ। क्योंकि भक्ति एक निर्विवाद तत्त्व है। अतः वह शास्त्रार्थनिर्णय नहीं है। ज्ञान का विषय नाना प्रकार से विवाद ग्रस्त है। कोई षट पदार्थ वादी है कोई पदार्थत्रयवादी है। कोई जगत्सत्यत्ववादी है कोई जगतमिथ्यात्व वादी है। अतः पूर्व पक्ष-उत्तर पक्ष खण्डन-मण्डन रूप में हजारों ग्रंथ बने।

महर्षि शाण्डिल्य और देवर्षि नारद

भक्ति-दर्शन के दो सूत्र ग्रथ प्राप्त हैं। एक शाण्डिल्य भक्तिसूत्र नाम से प्रसिद्ध है। दूसरा नारद भक्तिसूत्र नाम से। दोनों सूत्र ग्रंथों का आविर्भाव काल भगवद्गीतोत्तर ही है। शाण्डिल्य ने गीता का स्पष्ट नाम लिया है—"सैकान्तभावे गीतार्थप्रत्यभिज्ञानात्"। यद्यपि श्री नारायणतीर्थ ने व्याख्या में—"गीतार्थस्य ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेतीत्यादिना कथितार्थस्य गीतायां तद्बुद्धयस्तदात्मान इत्यादिना प्रत्यभिज्ञानात्" इस प्रकार अर्थ लगाया है। और इस बात को लेकर कतिपय मनीषियों ने अन्य वाक्य की प्रत्यभिज्ञा की भी सम्भावना करके गीतोत्तरकालीनत्व का निराकरण करने का भी प्रयास किया है। परन्तु उन मनीषियों को यह मालूम नहीं है कि यह व्याख्याकारों की व्याख्याचातुरी मानी जाती है। गीतायामर्थप्रत्यभिज्ञानाद् इस विग्रह में कौन सा अर्थ यह जिज्ञासा होने से विश्वतोमुख सूत्र से ही ब्रह्मसंस्थवाक्योक्तार्थ यह अर्थ निकाला जा रहा है। क्योंकि पुंलिङ्ग गीत पद माना जाये तो भी किसी ने गीत शब्द का श्रौतार्थ में प्रयोग नहीं किया है। उस के लिये "श्रुत" शब्द ही निश्चित है। श्रुतं का श्रुत्यर्थं, स्मृतं का स्मृत्यर्थं भाषितं का भाष्योक्तार्थं इत्यादि में

प्रयोग ही सर्वसाधारण है। प्रपत्ति का शरणागति अर्थ जो शाण्डिल्य ने निर्णय दिया है वह "मामेव ये प्रपद्यन्ते" इस गीता वाक्यस्थ प्रपत्ति की ही व्याख्या है। न कि पूरे शास्त्रों में आये हुए प्रपूर्वक पदधातु की। क्योंकि प्राप्ति अर्थ में शास्त्रों में प्रपत्ति का बहुतर प्रयोग हुआ है। यही नहीं, ऐसे गीता के अनेक वाक्यों को लेकर वहाँ विचार किया है। सब को अन्यथा करना दुराग्रह ही होगा।

नारदीय भक्ति सूत्रों का भी आविर्भाव गीतोत्तर ही है। "गौणी त्रिधा गुणभेदादार्त्तादिभेदाद्वा" ऐसा नारदीयसूत्र है। गुण अर्थात् सत्त्वरजतम तो उपनिषदों में भो प्रसिद्ध है। परन्तु आर्त्तादिभेद गीतोक्त "आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी" ये ही तीन हैं। गीता से प्राचीन तो उपनिषद ही हैं। वहाँ आर्त्तादि का वर्णन नहीं है। गीता के उत्तर कालवर्त्ती तो अचिन्तनीय है। यदि आर्त्तादिभेद नारदजीका स्वोपज्ञ होता तो आदि पद कह कर नहीं छोड़ते। वह किसी प्रसिद्ध भेद का द्योतक है। अतएव गीत्तोत्तर ही नारदीयसूत्रों का आविर्भाव निश्चित होता है।

ये दोनों सूत्रग्रन्थ भागवत से भी परवर्त्ती प्रतीत होते हैं। शाण्डिल्य सूत्र में प्रथमाध्याय द्वितीयाह्निक में षष्ठ एवं सप्तमसूत्र की व्याख्या में नारायणतीर्थ ने श्रीमद्भागवत का उद्धरण तिशेष रूप से दिया है। अन्य कई जगह भी भागवतार्थसूचन हुआ है। नारदीय भक्तिसूत्र में "यथा व्रजगोपिकानां" यह सूत्र भागवतोक्त गोपीप्रसङ्ग को ही इंगित करता है। हां यदि नारद जी ने व्रज में गोपी प्रेम को प्रत्यक्ष देख कर यह सूत्रप्रणयन किया हो तो अलग बात है। फिर भी पूर्वोक्त आर्त्तादि भेद को लेकर

गीतोत्तर मानना ही पड़ता है। तब भागवतोत्तर मानने में भी कोई असमञ्जसता नहीं है।

इन दो सूत्रग्रन्थों में शाण्डिल्य भक्तिसूत्रपर स्वप्नेश्वरभाष्य है। और श्रीनारायण तीर्थ की भक्तिचन्द्रिका नाम की व्याख्या है। नरायणतीर्थ ने रामानुजाचार्य की व्याख्या का निर्देश किया है। अतः प्रसिद्ध रामानुजाचार्यकी व्याख्या होने की भी संभावना की जा सकती है। परंतु नारदीय भक्तिसूत्रों पर कोई भी भाष्य या टीका अब तक नहीं हुई। केवल हमने ही इदंप्रथमतया भक्तिसूत्रवार्त्तिक लिखा। वैसे तो नारद भक्तिसूत्रों पर हिन्दी आदि भाषा में अनुवाद एवं व्याख्यायें हुई हैं परंतु कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सब आधुनिकतम है। इतिहास तो बाद में बनेगा।

भक्ताचार्य

प्राचीन भक्ताचार्यों की अनेक प्रकार से गणना या नामनिर्देश अनेक स्थानों में आया है। पाण्डवगीता के आरंभ में एक श्लोक है–

प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीकव्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान् ।
रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीन्पुण्यात्मनः परमभागवतान्नमामि ।।

नारदीय भक्तिसूत्रों में अन्त मैं भक्ताचार्यो को इस प्रकार कहा है–

"इत्येवं वदन्ति जनजल्पनिर्भया: कुमार०"

सूत्रग्रन्थ के मध्य में मत विशेष दिखाने के लिये कतिपय आचार्यों का नामनिर्देश आया है। जैसे नारदीय सूत्रों मे–

पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः

कथादिष्विति गर्गः

आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः

इसी प्रकार शाण्डिल्य सूत्र में भी आता है।

भक्तिः प्रमेया श्रुतिभ्यः।
पुराणेतिहासाभ्यां च ॥

पृथध्रुवप्राह्लादाम्बरीषशुकसनकनारदभजनाचाराच्च।

यहां पृथुध्रुव ये दो नाम और जुड़ गये हैं। मत प्रदर्शन में कहा है—

तामैश्वर्यपदां काश्यपः परत्वात्
आत्मैकपदां बादरायणः
उभयपदां शाण्डिल्यः शब्दोपपत्तिभ्याम्

इन में पृथु ध्रुप प्रह्लादादि का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। वे केवल पुराणादि वर्णित महापुरुष हैं। उनका आचार दर्शन वस्तुतः पुराणेतिहा-साभ्यां च में गतार्थ है। प्रत्यक्षतः उनका आचार शाण्डिल्य ने देखा हो तो यह कहना उनके लिए ही संभव है जो पौराणिक दृष्टि से देखते हैं। भागवतोत्तर कालीन शाण्डिल्य ने ध्रुव प्रह्लादीदि को देखा है यह तभी मानी जा सकती है यदि वे हजारों लाखों वर्ष जीवित रहे हो। वंश ब्राह्मणवर्णित शाण्डिल्य से अतिरिक्त ही भक्तिसूत्रकार शाण्डिल्य हैं ऐसे आधुनिक इतिहासकार मानते हैं।

महर्षि काश्यप कौन ? ये दिति अदिति के पति कश्यप ही हैं या कोई और ?। दिति अदिति के पति कश्यप का पुराणवर्णित सिद्धान्त से अतिरिक्त कोई सिद्धान्त नहीं हो सकता। जैसे कपिल का वर्णन श्रीमद्भागवत में आया है तो वहाँ भागवत का जो सिद्धान्त है वही पिल के सिद्धान्त के रूप में भी बताया है। प्रसिद्ध कपिल कृत सांख्यसूत्र या सांख्यकारिका के अनुकूल सिद्धान्त वहां बताया नहीं है। शिल्पशास्त्र में काश्यपशिल्पम् नामका एक

ग्रन्थ मिलता है। किन्तु वह सिद्धान्तवर्णनोपयोगी नहीं है। पाणिनीय सूत्रों में काश्यप के वैयाकरण होने का इशारा मिलता है। काश्यपस्य ऐसे सूत्र में काश्यप का नाम लिया गया है। परंतु वैयाकरणत्व भी भक्तिनिरूपण में उपयोगी नहीं है। संभव है भक्ति या वेदान्त पर काश्यप का कोई ग्रन्थ हो।

पाराशर्य या वादरायण

पाराशर्य और बादरायण एक ही व्यक्ति है या दो इस विषय पर यहाँ विचार करना अधिक उपयोगी नहीं है। दोनों नामों से ग्रन्थ का अस्तित्व "पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः" इस पाणिनीय सूत्र के इशारे और वादरणीय ब्रह्मसूत्र के अस्तित्व से सिद्ध है पराशरपुत्र व्यास ही बादरायण है ऐसा सनानत धर्मियों की मान्यता है। यद्यपि नारदीय सूत्र में उनका भेद सिद्धान्त है या अभेदसिद्धान्त इसका कोई संकेत नहीं है। पूजादि में अनुराग भक्ति का लक्षण है इतना ही वहां वताया है। पूजा मात्र से भेद सिद्धान्त उपस्थित नहीं होता।

देवो भूत्वा देवं यजेत्" "नाविष्णुर्विष्णुमर्चयेत्" इत्यादि वचन जागृत है। परन्तु शाण्डिल्य सूत्र से आत्मपरमात्मैक्य स्पष्ट है। द्वैतवादियों का कहना है कि अभेद भावना मात्र सूचित होता है। जैसे न्यायसिद्धान्त मुक्तावलीकार कहते हैं "अभेदभावनयैव यतितव्यमिति वदति" आश्चर्य की बात यह है कि जीवन भर अभेद भावना कर उपासना की। और मोक्ष में जाकर भेद कर डाला। जहां नैयायिक किसी प्रकार का ज्ञान ही नहीं मानता वहां भेद हो या अभेद, क्या फरक पडता है? क्या लाभ मिलता है? जिंदगी भर झूठी भावना कर मरणोत्तर परामर्थ की प्राप्ति की आशा रखना कैसी विडम्बना है? "यं यं वापि स्मरन्...तं तमेवेति

कौन्तेय" के अनुसार अनभीप्सित अभेद में पर्यवसान होगा यह एक अन्य आपत्ति है। इसी को गले पादुका न्याय कहते हैं। द्वैतवादियों का कहना है कि बदरायण के ब्रह्मसूत्र में निष्पक्ष तटस्थ रह कर विचार करने पर कहीं भी अद्वैत का आभास नहीं मिलता। परन्तु उनका विचार ही द्वैतवासना-वासित होने से एकपक्षीय है। तटस्थ नहीं प्रवाहमग्न है। अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा" यह सूत्र ही जीवपरैक्यप्रतिपादक है। धर्म अनुष्ठेय है। अतः धर्मजिज्ञासा अनुष्ठानार्थ है यह निश्चित है। ब्रह्म अनुष्ठेय नहीं है। अतः ब्रह्मजिज्ञासा अनुष्ठानार्थ नहीं, केवल ज्ञानार्थ होगा। दुःखनिवृत्ति आदि पुरुषार्थ है यह प्रायः सभी दर्शनकार मानते हैं। ब्रह्मज्ञान से अगर दुःख निवर्त्य है तो ज्ञान-निवर्त्य दुःख बलात् मिथ्या सिद्ध होगा। रज्जु-ज्ञाननिवर्त्य रज्जुगत सर्प होता है। वैसे ब्रह्मज्ञान निवर्त्य भी ब्रह्मगत दुःख होगा। परगत दुःखकी निवृत्ति स्वपुरुषार्थ नहीं हो सकता। अतः बलात् जोवब्रह्मैक्य भी मानना पड़ेगा। इस घोर आपदा से बचने के लिये द्वैतवादियों ने ब्रह्मजिज्ञासा का प्रयोजन तज्जन्यज्ञानप्रयुक्त उपासना बताया। परन्तु ऐसी स्थिति में 'अथातो धर्मजिज्ञासा' के समान 'अथात उपासनाजिज्ञासा' 'अथातो ब्रह्मोपासनाजिज्ञासा' आदि लिखना चाहिये था। इससे बचने के लिये द्वैतवादियों ने पूर्वोत्तर मीमांसा का ऐकशास्त्र्य माना। अथातो घर्मजिज्ञासा यहां धर्म पद से उपासना भी अभिप्रेत होने से वह भी प्रतिज्ञात है। केवल विषयस्वरूपनिर्णय उत्तर मीमांसा में है। अर्थात् दोनों ऋषि अधूरे थे। एक झूठ को छिपाने के लिये सौ झूठ बोलने के बराबर ही यह कथा है। एक दूसरे के पूरक हैं तो "धर्मं जैमिनिरत एव" "पूर्वं तु बादरायणः" इस प्रकार ये आपस में क्यों लड़ते थे? विरुद्ध

मत वाले आचार्यों ने मिल कर एक ग्रंथ बनाया ऐसा बच्चा भी नहीं सोच सकता। अस्तु, इस विषय पर हम ब्रह्मसूत्र प्रवचनों पर पर्याप्त विचार कर चुके हैं। अतः यहां उसका विस्तार सर्वथा अप्रसंगिक होने से दिग्दर्शन मात्र करा कर छोड़ देते हैं। शाण्डिल्य मत को इस ग्रंथ की प्रथम लहरी के चौंतीसवें श्लोक में और व्याख्या में दिखाया है। सो वहीं द्रष्टव्य है।

देवर्षि नारद

भगवान वेद व्यास जी महान् भक्त थे इस विषय में दो राय नहीं हो सकती। उनके अठारह पुराण ही इसमें ज्वलंत उदाहरण है। व्यास जी ने अनेक पात्रों के मुख से भक्ति सिद्धान्त को कहलवाया या उनकी भक्ति का अपने शब्दों में और क्वचित् उन्हीं के शब्दों में वर्णन किया। शुकदेव का स्वतन्त्र कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। श्रीमद्भागवत को यद्यपि शुक-शास्त्र कहते हैं। किन्तु रचयिता तो व्यास को ही माना जाता है।

देवर्षि नारद पौराणाणिक पुरुष हैं। महान भक्त के रूप में पुराणों में उनका उल्लेख है। उनका नारद पंचरात्र प्रसिद्ध है। परन्तु उसके रचयिता के विषय में अन्वेषण आवश्यक है। उनका छोटा सा सूत्र ग्रंथ अति प्रसिद्ध है। जिसको नारदभक्तिसूत्र कहते हैं। यद्यपि वह एक छोटा ग्रन्थ है। तथापि भक्ति सिद्धान्त के प्रतिपादन में बेजोड़ है। "य इदं नारदप्रोक्तं" इस अन्तिम सूत्र में रचयिता के रूप में अपना नामोल्लेख किया है। अतएव नारद जी के ऐतिहासिकत्व में और भक्तत्व में किसी प्रकार का संशय नहीं हो सकता। भक्तिदर्शन वार्त्तिक की भूमिका में किसी अन्य व्यक्ति के नारद नाम से ग्रन्थ रचना की सम्भावना का निराकरण हमने कर लिया है। अतः उसे वहीं देख लेना चाहिये।

महर्षि शाण्डिल्य

शाण्डिल्य भक्तिसूत्र का उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं। शाण्डिल्य ने अपने सूत्र में नारद का नाम लिया है और नारद ने शाण्डिल्य का। यह उसी प्रकार है जैसे जैमिनि ने बादरायण का नाम लिया है और बादरायण ने जैमिनि का। इनका पौर्वापर्य निश्चय करना अति कठिन है। पुराणों के अनुसार देवर्षि नारद ब्रह्मा जी के उत्संग से सृष्टि के आदि में ही हुआ है और शाण्डिल्य बाद में

प्रकृत ग्रंथ में इन तीन आचार्यों का नाम लिया गया है। उनका मत प्रदर्शन भी नारदीय भक्तिसूत्रानुसार ही किया है। उनसे शाडिण्ल्य मत प्रदर्शन में जीवपरैक्य बात आ गयी है। अतएव उस विषय को लेकर यहाँ पर यह चर्चा चलायी।

इन मूल ग्रन्थों के बाद या आगे पीछे यद्यपि भक्तिमय ग्रन्थों की रचना विपुल रूप से हुई। परन्तु दर्शनिक रूप से भक्तिस्वरूपनिरूपणात्मक मौलिक ग्रंथ या व्याख्या ग्रंथ उपलब्ध नहीं होते। यद्यपि तन्त्र ग्रन्थों का निर्माण हुए हैं, और उनके आधार पर सूत्र निर्माण हुआ या सूत्रानुसार तन्त्र ग्रंथ निर्माण हुआ, जैसा भी कहो, तथापि तन्त्र ग्रन्थ प्रायः पूजादि प्रधान होते हैं। उसमें कहीं-कहीं धर्म निरूपण भी है। भक्ति के स्वरूप-निरूपण में वे आकर ग्रन्थ रूप हो सकते हैं किन्तु दार्शनिक रूप नहीं। स्वप्नेश्वर तो बहुत बाद में हुए। ऐसा प्रतीत होता है। अत एव भक्ति-स्वरूपनिरूपणार्थ हमें आचार्य काल में ही आना पड़ेगा। आद्य त्रंकराचार्य रामानुजाचार्यादि ने भक्तिनिरूपण किया है। किन्तु स्वतन्त्र भक्तिस्वरूप-निरूपण परक ग्रंथ बहुत बाद में हुए हैं।

भक्ति और आद्यशंकराचार्य

आद्यशंकराचार्य महान भक्त थे यह बात उनके स्तोत्र साहित्य से पता चलता है। विष्णुपादादि केशान्तवर्णन शिवपादादि केशान्तवर्णन शिवानन्द लहरी आदि ग्रंथों के अवलोकन से प्रकट होता है कि आचार्य महान भक्त थे। आचार्य के "कृष्णो वै पृथगस्ति कोऽप्यविकृतः सच्चिन्मयो नीलिमा "इस कृष्ण स्तुति से ज्ञात होता है कि परवर्ती वल्लभाचार्यादि का "चिन्मयविग्रह श्रीकृष्ण है" यह सिद्धान्त यहीं से लिया हुआ है। "सच्चिन्मयो नीलिमा" यह कितना स्पष्टतया उक्त सिद्धान्त का प्रतिपादक है यह एक साधारण अध्येता भी समझ सकता है। कुछ आलोचक लोगों का कहना है कि शंकराचार्य के गद्दी पर बैठने वाले सभी शंकराचार्य ही कहलाते हैं। यह स्तोत्र साहित्य भिन्न-भिन्न शंकराचार्यों के द्वारा निर्मित स्तुतियों का संग्रह है इत्यादि। परन्तु इन महानुभावों को यह मालूम नहीं है कि पीठासीन शंकराचार्यों के अपने नाम अलग होते हैं। शंकराचार्य यह उपाधि मात्र होता है। ग्रंथों में अपने ही नाम लिखते हैं। कहीं उपाधि लिखते भी हैं तो ज्योतिष्पीठाधीश्वर शंकराचार्य गोवर्धनपीठाधिपति शंकराचार्य आदि लिखते हैं। या नृसिंहभारतीशंकराचार्य अभिनवसच्चिदानन्द शंकराचार्य आदि लिखते हैं। लेखकों को हमेशा अपने चश्मे से ही व्यक्ति को नहीं देखना चाहिये। उस पवित्र गद्दी पर बैठ कर धोखेबाजी शंकराचार्य लोग करने लग जाये यह कैसी विडम्बना होगी? और मान भी लिया जाये कि एकाध धोखेबाज निकला तो अनन्तरवर्ती शंकराचार्य को तुरन्त मालूम ही पड़ जाता और धोखा होने नहीं देते। पीठासीन इतर शंकराचार्यों द्वारा विरचित

स्तोत्रादि आज उपलब्ध है उन सब में उनका अपना-अपना नाम ही स्थित है। कोई विच्छिन्न परम्परा होती तो इस कल्पना को बल मिलता। अतः शंकराचार्य नाम से उपलभ्यमान सभी साहित्य आद्य-शंकराचार्य का ही है। भाषा की दृष्टि से कुछ विद्वान लोग जो अन्यथा कल्पना करते हैं वह भी अकिंचित्कर है। विशेष ध्यान पूर्वक लिखते हैं तो भाषा सुन्दर होती है और ध्यान दिये बिना लिखते हैं तो साधारण हो जाती है यह सभी लेखकों का अनुभव है।

आचार्य ने विष्णु सहस्र नाम पर जो भाष्य लिखा वहां प्रसंगागत कुछ भक्ति सिद्धान्तों का निरूपण उल्लेखनीय महत्त्व रखता है।

रामानुजाचार्य तथा अन्य

आद्यशंकराचार्य के बाद पूरे संस्कृत साहित्य को एक नयी मोड़ देने वाले प्रथम आचार्य रामानुजाचार्य हुए। उनका कहना है कि संपूर्ण श्रुति स्मृति पुराणों का परमतात्पर्य भक्ति में ही है। ज्ञानकर्मादि भक्ति के अंग मात्र है। तदर्थ किसी को विशिष्टाद्वैत पसंद आया किसी को द्वैताद्वैत, किसी को द्वैत और किसी को शुद्धाद्वैत। यही चार वैष्णवाचार्य सिद्धान्त है। प्रथम रामानुजाचार्य का सिद्धान्त है द्वितीय निम्बार्काचार्य का, तृतीय मध्वाचार्य का और चतुर्थ वल्लभाचार्य का। इस का परिणाम यह हुआ कि इन सब के लिये मूलग्रन्थ पुराण बन गये। उपनिषदों में भक्तिनिरूपण न होने से वे गौण हो गयी। शैवाचार्यों की भी यही स्थिति हुई। फलतः कोई विष्णुपुराण को कोई शिवपुराण को और कोई भागवतपुराण को ही प्रमाण मानने लगे। सात्त्वत संहिता आदि तन्त्रग्रन्थों का महत्त्व बढ़ गया। तदनुसार

उपनिषदों का और सूत्रों का अर्थ करने लगे। ब्रह्मसूत्र स्वयं भक्तिग्रन्थ हो गया तो अब शाण्डिल्य भक्तियोसूत्र तथा नारदीय भक्तिसूत्र की उपयोगिता कहाँ रह जाती है। फिर भी सुनते हैं श्रीरामानुजाचार्य ने शाण्डिल्य सूत्रों पर व्याख्या लिखी है। जैसे कि भक्यिचन्द्रिकार की व्याख्या में उल्लेख हुआ है।

गौडीय संप्रदाय

रामानुजाचार्यादि ने तो श्रुतिस्मृति पुराणों को ही भक्तिपरक बताया। गौडीय संप्रदाय में एक और मोड आ गया। उन्होंने काव्यालंकार साहित्यादि को भक्ति की ओर लगा दिया। शृंगारादि नवरसों को और विभाव अनुभाव संचारीभावादि को भक्ति में जोडकर व्याख्या की। कृष्ण एवं राधाको नायक तथा नायिका रूप में वर्णन किया। फिर लौकिक तथा अलौकिक विभाग देकर लौकिक साहित्य से भक्ति साहित्य को अलग किया। श्री मधुसूदन सरस्वती ने भी इसी का पोषण किया। "नवरसमिलितं वा केवलं वा पुमर्थं परममिह मुकुन्दे भक्तियोगं वदन्ति" इस प्रकार भक्तिरसायनग्रन्थको उन्होने प्रारंभ किया। और तदनुरूप ही आगे निरूपण किया। इस का मूलस्रोत तो श्रीधरस्वामी से ही निकला है। "मल्लानामशनिः" इत्यादि भागवत श्लोक की व्याख्या में श्रीधरस्वामी ने शृंगारादि नवरसों को श्रीकृष्ण में दिखाकर भक्तिपरत्वेन वर्णन किया। अत एव द्वैत अद्वैत रूपी सिद्धान्तभेद होने पर भी भक्ति में ऐकमत्य हो गया।

भक्ति का स्वरूप

भक्ति का यथार्थ स्वरूप क्या है इस का निर्देश नारदीय भक्तिसूत्र तथा शाण्डिल्य भक्तिसूत्र दोनों में प्रायः समानरूप से किया गया है। 'सा त्व-

स्मिन् परमप्रेमरूपा" यह नारदीयलक्षण है। और "सा परानुरक्तिरीश्वरे" ऐसा शाण्डिल्यकृतलक्षण है। राग किसी निमित्तविशेष से होता है। "सुखानुशयी रागः" इस प्रकार योगसूत्रकार ने पञ्चपर्वा अविद्या का ही एक पर्व राग को बताया। राग नैमित्तिक है। उसके पीछे जो भाव होता है वह अनुराग है उस अनुराग को ही प्रेमसंज्ञा दी है भगवान में रागप्रथम गुणश्रवणादि निमित्त से होता है। बाद में फिर अनुराग होता है। वही उत्कर्ष प्राप्त होकर परानुराग या परम प्रेम रूप होता है तो उस को भक्ति कहते हैं। उस समय वे ही श्रवणादि स्वयं प्रेमात्मक होने लगता है। इसी को वैधी एवं रामानुगा कहते हैं। राग निमित्त जब हो तब वैधी भक्ति है। राग के अनुगामी–बाद में आने वाला अनुराग ही रागानुगा है। यही सरल व्याख्या है। अन्य प्रकार की व्याख्या भी आचार्य लोग करते हैं। वह तत्र-तत्र द्रष्टव्य है।

संक्षेप में कहना हो तो भक्ति के दो स्वरूप हैं। एक साधनरूपा भक्ति है। दूसरी फलरूपा भक्ति है। प्राथमिक साधन से लेकर पूर्णफलपर्यन्त अठारह भूमिकायें होती हैं। जिस का वर्णन प्रकृतग्रन्थ में अन्त में किया है। उससे पूर्व भक्ति का सरल लक्षण; कर्ममिश्रा, ज्ञानमिश्रा आदि का स्वरूप; नवधाभक्ति के नानास्वरूप तथा पञ्चभावादिका वर्णन किया गया है। यही प्रथम लहरी का संक्षिप्त विषय है। द्वितीय लहरी में प्रेम की ही अनेक भूमिकाओं का निरूपण किया है। अत एव प्रथम भक्तिलहरी है तो द्वितीय प्रेमलहरी है। तृतीय आनन्दलहरी है, जहां भगवान को विविधलीलाओं का वर्णन शामिल है। जो स्वयं अध्ययन मात्र से आनन्द दायिनी है। तथा भक्ति विषयक अनेक उपदेश भी हैं।

यद्यपि इस ग्रन्थ की द्वितीयलहरी का मुद्रण सन् १९६३ में ही हो गया था। मूलश्लोक मात्र का मुद्रण भडोच में कराया था। उसका कारण भी अन्यग्रन्थोके समान इस ग्रन्थपर भी कुछ शनैश्चर दृष्टि पड गयी थी। द्वितीय लहरी गायब हुई तो कोई उसका दुरुपयोग न करे इस दृष्टि से पुनः श्लोकों को यथा कथंचित् स्मरण कर पुनः संपादन किया और मुद्रण कर लिया। यद्यपि इस ग्रन्थ की चार लहरियां थी। उसे घटाकर तीन लहरियों का इस समय बना दिया गया और भक्तिशास्त्र में प्रायः त्रित्वसंख्या की महिमा है। भक्तजन इस ग्रन्थ से लाभ उठावें या नहीं जैसा भी हो मुझे मनः संतोष है। कारण "स्वान्तं प्रमोदयितुमेव मम प्रवृत्तिः"। निजप्रमोदार्थं ही यह स्वीय प्रयत्न है। हाँ इससे यदि अन्य भी लाभ प्राप्त करते हैं तो प्रसन्नता की बात होगी।





श्री शिवनारायण जी कपूर



दिव्यरसतरङ्गिणी

प्रथमा भक्तिलहरी

यस्य क्षणस्फुरणयैव भवेदशेष-
मुन्मीलितं जगदिदं यत एव चान्यात् ।
यः स्वे समं समुपसंहरते महिम्नि
तं प्रेमसारघनमीशमजं भजध्वम् ॥ १ ॥

जिसके ईक्षणात्मक क्षणमात्र स्फुरण से समस्त जगत् (उन्मीलितं भवेत्) अव्याकृत से व्याकृतनामरूपवाला हो जाता है, अर्थात् उत्पन्न होता है। (च) और (यत एव) जिससे ही (अन्यात्) अनुप्राणित होता है अर्थात् स्थिति प्राप्त करता है। जो अन्त में सबको (स्वे महिम्नि) अपनी महिमा में उपसंहृत करता है, घनीभूत विशुद्ध प्रेमरूपी अजन्मा उस परमात्मा का भजन करो ॥ १ ॥

कादम्बिन्याः समुद्धृत्य क्रियते विषमस्थले ।
भावावबोधनार्थेयं टिप्पण्यनतिविस्तरा ॥ १ ॥

तं प्रेमसारघनं = घनीभूतं प्रेमसारमचिदंशवृत्त्यादिरहितत्वेन विशुद्धं वृद्धिकाष्ठाप्राप्तत्वेन घनीभूतं यत् प्रेम तत्स्वरूपमजमीशं परमात्मानं भजध्वमित्यन्वयः। तं कीदृशं ? यस्य क्षणस्फुरणयैव "विद्युतो व्यद्युतदि" तिश्रुतेः क्षणमात्रे-

क्षणात्मकस्फुरणयैव जगदिदं भवेद्-जायतेऽस्तित्वं लभते च। उन्मीलितं–विकसितं वर्धमानं सद् यत एव चान्यादनुप्राणितं भवेत्। मातापित्रोः प्रेम्णैव जन्म लब्ध्वा बालस्तत्प्रेम्णैव परिपुष्टो भवतीति प्रसिद्धम्। एतावांस्तु विशेषः–पित्रोः प्रेम्णः सोपाधिकत्वेन न प्रेमसाररूपत्वं, भगवतस्तु निरुपाधिकं शुद्धं प्रेमेति। यः स्वे महिम्नि समं सर्वं समुपसंहरते समन्तादुप समीपे कृत्वा सम्यग् हरते विपरिणतमपक्षपय्य स्वस्वरूपे विलापयति। विनाशयति इत्यनुक्त्वोपसंहारमात्रं कथयतोऽयमाशयः—न खलु परमेश्वरो जगदिदं ध्वंसयति। किंतु सृष्टिकालभ्रमणपरिश्रान्तानां प्राणिनां विश्रान्तये केवलमुपसंहरति स्वान्तरङ्गीकरोति। तथा च तदपि प्रेम्ण एव फलम्। उक्तं च प्रशस्तपादाचार्यैः—"संसारखिन्नानां सर्वप्राणिनां निशि विश्रामार्थं सकलभुवनपतेर्महेश्वरस्य संजिहीर्षे" त्यादि। एतेन कंसवधादिकमपि व्याख्यातम्। प्रत्युक्तं च भगवतः शिवरूपे तमोगुणित्वाद्यम्। "आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ती" तिश्रुतेश्च ॥ १ ॥

पुनन्ति सन्तो भुवनानि यत्कला-
मवाप्य सर्वाणि सनाथन्त्यपि।
रसोर्मिलं प्रेमसुधामहोदधिं
विधुं प्रपद्ये तमहं महोज्ज्वलम् ॥ २ ॥

जिस (प्रेमसुधासागर) की लेश मात्रा को पाकर संत जन समस्त जगत को पवित्र तथा सनाथ करते हैं, श्रृंगार शान्तादि रसरूपी तरंगोंसे शोभायमान परम उज्ज्वल उस प्रेमसुधासागररूपो (विधु) भगवान् श्रीकृष्ण के हम शरणागत हैं ॥ २ ॥

पुनन्तीति। "तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानी" त्यादिवचनात्। सनाथयन्त्यपीति। "सनाथा चेयं पृथिवी" तिवचनात्। रसोर्मिलमिति। शृङ्गारशान्तादयो रसा ऊर्मिवत्तत्र भासन्ते। तथाचोक्तं "नवरसमिलितं वा केवलं वा पुमर्थमि" ति। प्रेमेति। आकाशस्थविधोर्महोदधिरुद्भवस्थानम्। श्रीकृष्णस्य विधोस्तु प्रेमसुधामहोदधिः। अपि चायं प्रेमसुधामहोदधिरूप एव। विधुशब्दः कृष्णे चन्द्रे च।

महोज्ज्वलमिति । परमप्रकाशरूपमित्यर्थः । उज्ज्वलशब्दः शृङ्गारपर्यायोऽपि । महान् उज्ज्वलः शृङ्गारमाधुर्यरसो यत्र स तथा तमित्यपि ततोऽर्थः ॥ २ ॥

या शास्त्रेष्वखिलेष्वधिष्ठितपदा निस्तीर्णकर्त्राग्रहा
निर्मुक्ताखिलदेशकालकरणद्रव्यक्रियायन्त्रणा ।
क्लेशघ्नी गुणसंतनन्त्यतिगुणा कर्माशयध्वंसिनी
भक्तिः सा परिदर्श्यते मधुरिपोरिष्टाखिलेष्टप्रदा ॥ ३ ॥

समस्त शास्त्रों का परम तात्पर्य विषय होने से जो सर्वत्र अपना पद जमाये हुए है; अमुक ही कर सकता है अमुक नहीं इत्यादि कर्त्तृ-आग्रह से जो ऊपर उठी हुई है; अमुक देश में हो, अमुक काल में हो, अमुक साधन से हो, अमुक द्रव्य से हो, अमुक क्रिया के द्वारा हो इत्यादि यज्ञादि स्थल में दृष्ट नियन्त्रणों से जो मुक्त है, जो समस्त क्लेश नाशिनी है, शुभ-दायिनी है, गुण निर्माण कारिणी होने पर भी गुणातीता है, कर्म और वासना को मिटाने वाली है, समस्त अभीष्ट वस्तु प्रदान करने वाली है; भगवान की परम प्रिया उस भक्ति की यहाँ (परि) साधन आदि के साथ हम विवेचना करते हैं ॥ ३ ॥

प्रथमश्लोके कर्त्तृविशेषानिर्देशेन सामान्यतः सूचितमपि सर्वाधिकारित्वं पुनः स्फुटीकुर्वन्नेव भक्तेः परमाभिधेयत्वं परमप्रयोजनत्वादिकं च विशदयन्नाह—या शास्त्रेष्विति । अखिलशास्त्रेष्वधिष्ठितपदा = सकलशास्त्रपरमतात्पर्यविषयभूता । एवं विधार्थलाभायैवाधिपदम् "आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः । इदमेकं हि निष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदे" त्यादिवचनात् परमपुरुषार्थरूपत्वाच्च सर्वेषां शास्त्राणां भक्तावेव परमतात्पर्यमिति निश्चीयते । निस्तीर्णकर्त्राग्रहेति । "केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः । येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसे" त्यादिना कर्त्तृविशेषाग्रहप्रतिक्षेपणादिति भावः । एवं ज्ञानिनामज्ञानिनां पापिनां पुण्यात्मनामतिसक्तानामत्यसक्तानां मुक्तानां मुमुक्षूणां बद्धानामात्महन्तॄणां पशुघ्नामन्यविधानां च सर्वेषामपि स्वरूपयोग्यत्वलक्षणो भक्त्यधिका-

रोऽस्त्येवेति सप्रमाणं कादम्बिन्यां व्याख्यातम् । निर्मुक्तेति । देशः कुरुक्षेत्रादिरकीकटः, कालः प्रत्यूषादिः, करणं स्फ्यचमसादिः, द्रव्यं पायसनवनीतादि, क्रिया नमस्कारादिः, एतेषां सर्वेषां नियन्त्रणान्निर्मुक्ता "तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा । श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च" "यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषी" त्यादीनि प्रमाणानि कादम्बिन्युक्तान्यत्र द्रष्टव्यानि । क्लेशघ्नीनि । अविद्यास्मितादिक्लेशपञ्चकहारिणी । "त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्त आनन्दमात्र उपपन्न समस्तशक्तौ । भक्तिं विधाय परमां शनकैरविद्याग्रन्थिं विभेत्स्यसि ममाहमिति प्ररूढामि" तिवचनात् । ममाहमित्यस्मिता, तया प्ररूढाऽविद्या ग्रन्थिः रागद्वेषादिना पल्लविता तां विभेत्स्यसीत्यर्थः । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । गुणसंतननीति । गुणानां ज्ञानवैराग्यादीनामुद्भाविनी तद्वर्धनी चेत्यर्थः । अतिगुणा = गुणातीता । "मद्‌गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये । मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ । लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्यु दाहृतमिति" तल्लक्ष्मोक्तम् । कर्माशयध्वंसिनीति । कर्माणि पुण्यपापलक्षणानि संचितानि ध्वंसयति । "श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पत" इति वचनात्प्रारब्धहरत्वमपि केचिदिच्छन्ति । "दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः । ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्त्या क्षीणमङ्गलाः । जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः" इत्यत्र स्पष्टतरं प्रारब्धनाशावगमादिति । आशयो वासना । तद्ध्वंसकत्वमपि । "तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदानव्रतादिभिः । नाधर्मजं तद्धृदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवये" तिवचनात् । तद्धृदयं = तद्विषयकवासना । भगवदिष्टा च । "भक्तिप्रियो माधव" इत्यादेः । अखिलेष्टप्रदा च । "अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम" इत्यादेः । एवंविधा भक्तिरत्र मया परिदर्श्यते—परितः—साधनादिसहिता दर्श्यते निरूप्यते ॥ ३ ॥

स्वान्तं प्रमोदयितुमेव मम प्रवृत्ति –
रेषा गुरोश्चरणसंस्मरणप्रवीणा ।
तत्स्यन्दितां भुवि भगीरथवन्मयान्ये
धन्याश्च दिव्यरससिन्धुमिमां पिबन्तु ॥ ४ ॥

गुरुचरणों के स्मरण से प्रखर बनी मेरी यह प्रवृत्ति यद्यपि स्वान्तः सुखाय है। तथापि इससे मैंने जिसे प्रवाहित किया उस दिव्यरससिन्धुको अन्य-धन्यजन भी पान कर कृतार्थ हो। जैसे निज (भगीरथ) पर्यन्त सगरवंशीयों को तर्पित करने के लिये ही वसिष्ठगुरु चरण स्मरण से प्रखरित भगीरथ का यद्यपि प्रयत्न हुआ था तथापि उससे प्रवाहित ब्रह्मरस प्रवाहिनी गंगा का पान आज भी अन्य धन्य पुरुष करते हैं ॥ ४ ॥

अनुबन्धं निरूप्य संप्रति प्रकृतग्रन्थकरणे हेतुं ग्रन्थस्य च गङ्गोपमया परमपवित्रत्वं च सूचयंस्तत्र गुरुकृपावश्यकत्वमप्याह—स्वान्तमिति। स्वान्तं हृदयमर्थात् स्वस्यैव। गङ्गापक्षे स्वपदार्थो भगीरथः, सोऽन्ते यस्य सगरवंशस्येत्यतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। स्वपूर्वजं सगरवंशीयपुरुषसमुदायमित्यर्थः। यद्वा स्वस्यापि गङ्गायाः प्रमोदनसंभवात्तद्गुणसंविज्ञानोऽपि घटत एव। प्रमोदयितुम्= आनन्दयितुं, पक्षान्तरे तर्पयितुं, प्रवृत्तिर्ग्रन्थरचनात्मिका, अन्यत्र तपश्चर्यारूपा। गुरोः=स्वगुरोः, अन्यत्र वसिष्ठगुरोः। "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरावि"ति श्रुतेर्गुरुभक्तिरावश्यकीति भावः। गुरुचरणस्मरणेन प्रवीणा प्रगल्भा। तत्स्यन्दितां यथोक्तग्रन्थप्रवृत्त्या तपश्चर्यया च प्रवाहिताम्। भुवीति। सर्वजनसाधारण्यद्योतनाय। पक्षान्तरे तु भूलोके। भगीरथेन स्वर्णद्या भूलोके प्रवाहणात्। भगीरथवदिति। एतेन न्यायमणिमालादिवन्न कौतुकेनैव किन्तु भगवदाराधनलब्धशेमुषीकेणाऽवलोडितवेदशास्त्रेतिहासपुराणभक्तिग्रन्थनिचयेन विहितनानोपासनेन संपादितभगीरथप्रयत्नेन कृतेयं दिव्यरसतरङ्गिणीति सूच्यते। अन्ये = मद्भिन्नाः। अन्यत्र सगरपुत्रभिन्ना अद्यतना अपि। दिव्येति। दिव्यरसस्य भक्तिरसस्य "रसो वै सः" इति श्रुतेः, सिन्धुमिव सिन्धुम्। अन्यत्र दिविभवस्य रसस्य जलस्य सिन्धुम्। दिव्या चासौ रससिन्धुश्च तामिति वा। स्वर्धुनीं गङ्गामिति यावत्। ब्रह्मरसप्रवाहरूपिणी गङ्गेति प्रसिद्धेः। सिन्धुशब्दो नदीवाचकः स्त्रियामिति "इमामि"ति निर्देशः। सिन्धुर्वमथुदेशाब्धिनदे ना सरिति स्त्रियाम्" इति विश्वः। पिबन्त्विति। यद्यपि सिन्धोर्न पानं किन्तु सिन्धुजलस्यैव। तथापि सिन्धुपानमपीतशेषत्वादुक्तम्। सर्वं ग्रन्थं सम्यगवलोक्य भक्तिः साध्येति तत्त्वम्। "तत्पादसलिलं यथे"ति भागवते ॥ ४ ॥

इत्युपक्रमः



निजास्पदे योऽभिगते स्मृते वा
छिन्तेऽस्मितां भेदधियं च भिन्ते ।
प्रेमायमानन्दमयानुरागः
परं तमीशे निगदन्ति भक्तिम् ।। १ ।।

प्रेम उस आनन्दमय अनुराग को कहते हैं जो अपने आस्पद (प्रेमास्पद) के उपस्थित होते ही या तत्स्मरण होते ही अपनी अस्मिता को (मैं कुछ हूँ इस भाव को) काट देता है और भेदभाव को (यह मुझ से अलग है ऐसे भाव को) समाप्त करता है। वही अनुराग परमात्मा के प्रति पराकाष्ठा को प्राप्त होता है तो उसे विद्वान् लोग भक्ति कहते हैं ।। १ ।।

प्रतिज्ञातां भक्ति लक्षयन् प्रथमं "सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपे"ति नारदोक्त-भक्तिलक्षणघटकीभूतं प्रेमाणं लक्षयति—निजास्पद इत्यादिपादत्रयेण । ि-जेति प्रेमपरामर्शः । प्रेमत्वेनाभिमतस्य यदास्पदं तस्मिन्नभिगते आभिमुख्यं गते स्मृते-स्मृतमात्रे वा यः प्रेमत्वेनाभिमतः अस्मितामहमस्मि कश्चिदित्येवंभूतां छिन्ते प्रेमास्पदेऽभिमुखीभूते स्वयं स्वमेव लोका विस्मरन्तीति प्रसिद्धम् । तत्रात्मनः स्वप्रकाशस्य विस्मरणाऽसंभवादस्मिताया एवाननुसन्धानात्मकं विस्मरणम् । किं च भेदधियम्—अन्योसावन्योऽहमिति भिन्ते । प्रेमाणं लक्षयित्वा भक्ति लक्षयति—तमेव परं सन्तं निगदन्ति भक्तिम् ।। १ ।।

गुणोज्झितं कामनया विहीनं
प्रतिक्षणं चैव विवर्धमानम् ।
अपेतविच्छेदमतीव सूक्ष्मं
प्रेमोचिरे स्वानुभवस्वरूपम् ।। २ ।।

प्रेम गुणातीत, कामनारहित प्रतिक्षण बढ़ने वाला, न टूटने वाला अतिसूक्ष्म वह तत्व है जो स्वसंवेद्य है ॥ २ ॥

"गुणरहितं कामनारहितमि" त्यादि नारदीयसूत्रं प्रेमलक्षणविषयाऽर्थतः पठति–गुणोज्झितमित्यादि । अस्य व्याख्याविस्तरः कादम्बिन्यां नारदीयभक्तिदर्शनवार्त्तिके च द्रष्टव्यः ॥ २ ॥

तस्मिन्ममत्वातिशयप्रयुक्त—
निष्पेषणोत्सन्नपराभिसन्धेः ।
प्रेमा तदाकारनिरूढगाढ—
संस्कारभेदो निजचेतसः स्यात् ॥ ३ ॥

प्रेम दो प्रकार का है। एक स्वीयभाव से प्रयुक्त है और दूसरा परकीयभाव से प्रयुक्त है। स्वीयभाव वाले प्रेम का यह लक्षण है। अतिशय ममत्व से चित्त पिघलकर मृदुल हो जाता है। उसी ममत्व से चित्त की अन्यपरता समाप्त हो जाती है तो चित्त में प्रेमास्पद विषयक दृढ़ एवं गाढ एक प्रकार का विशिष्ट संस्कार जम जाता है उसी को प्रेम (स्वीय प्रेम) कहते हैं ॥ ३ ॥

प्रेम द्विविधं स्वीयप्रेम परकीयप्रेम च। तत्र कचिदाहुः। स्वीयदारप्रेम स्वीयपतिप्रेम वाऽऽद्यम् । परकीदारप्रेंम परकीयपतिप्रेम वा द्वितीयमिति । तन्न । कामस्य भक्तिपदानर्हतयेदृशव्याख्यानस्य कामिजनमात्रमनोहरस्य भक्तिशास्त्रानुपयोगात् । कैश्चिदाचार्यैस्तथा व्याख्यानं तु प्रेमकामयोर्वहुतरसादृश्यसत्त्वेन नेयम् । अतः स्वयं तदुभयं व्याचष्टे द्वाभ्याम् । तत्र प्रथमं स्वीयप्रेम लक्षयति तस्मिन्नति । तस्मिन् =प्रेमास्पदत्वेनाभिमते ममत्वातिशयेन प्रयुक्तं यन्निष्पेषणं काठिन्यविदलनमर्थाच्चेतस एव तेनोत्सन्नः पराभिसन्धिः परतात्पर्यं परानुसन्धानं यस्य तत्तथा तस्य निजचेतसः। प्रियविषयकममतातिशयेन तन्मात्रचिन्तनतो निरस्तपरानुसन्धानस्येत्यर्थः । तदाकारेति । प्रियत्वेनाभिमताकारेत्यर्थः । तद्विषयकनिरन्तर-

चिन्तनेन तदाकारसंस्कारो निरूढश्च गाढश्च भवति। दृष्टं चैतदाभीक्ष्ण्येन श्लोकपाठादौ। ततो यथा झटिति श्लोकोच्चारणं तथात्र झटिति प्रियस्मरणं भवति। एवं विधः संस्कारभेदः = संस्कारविशेष एव प्रेमा स्वीयप्रेमेति यावत्। एतदुक्तं भवति–यत्र ममत्वं पूर्णरूपेण भवति। अयं ममैव न मां त्यक्तुमर्हतीति, तत्र स्वीयत्वबुद्धिर्भवति। तत्सहितः प्रेमा स्वीयप्रेमा। यथा रुक्मिण्यादेः। यथा च यशोदादेः ॥३॥

यद्वा तदीयत्वदृढ़ाशयोत्थ–
मासृण्यसंपादिततत्स्वरूपे।
अन्याभिलाषाप्रशमेन स स्या–
च्चित्ते तदाशाकृतदाहभेदः ॥ ४ ॥

परकीय भाव प्रयुक्त प्रेम का लक्षण इस श्लोक में है। मैं उसी का हूँ (वह मेरा हो या न हो) इस दृढ़ आशय से उत्पन्न मसृणता के कारण प्रियतम के आकार की छाप से चित्त में अन्य की अभिलाषा के शमन के साथ प्रियतम की ही प्राप्ति की आशा से जो दाह-सी होती है वही परकीय प्रेम है (स्वकीया और परकीया की व्याख्या जो अन्यथा करते हैं उसका औचित्यानौचित्य पर विचार टिप्पणी में देखें) ॥ ४ ॥

अधुना परकीयप्रेमाणं व्याचष्टे–यद्वेति। व्यवस्थितविकल्पार्थो वाकारः। अन्यतरः कर्तव्य इत्याशयः। तदीयत्वेति। अर्थात् स्वस्य। प्रेमास्पदत्वेनाभिमतस्तत्पदार्थः। अहं तस्यैव नान्यस्येति सावधारणतागर्भम्। एवंविधो यो दृढाशयस्तेनोत्पन्नं यन्मासृण्यमर्थाच्चित्तस्य। तेन मासृण्येन संपादितं तत्स्वरूपं = प्रेमास्पदाकारता यस्य तस्मिंश्चित्तेऽन्यस्य प्रेमास्पदभिन्नस्याभिलाषाप्रशमनपूर्वको यस्तदाशाकृतदाहभेदः = प्रेमास्पदप्राप्तिविषयकाभिलाषाप्रयुक्तदाहविशेषः स प्रेमा स्यादित्यन्वयः। एतदुक्तं भवति–स खलु प्रियतमो न मदधिकृतः सर्वंसाधारण्यात्। अहं तु नान्यस्य कस्यचित्। अथ च मा मां स उपेक्षिष्ट इति सर्वदा मनसि दाहविशेषः स परकीयप्रेमेति। यथा व्रजगोपिकानाम्। तथा चोक्तं

ताभिः— "त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वत" इति। स्वीयप्रेमणि न दाहः। उपेक्षायाः संभावनाविरहात्। परकीयभावे दाहस्तु भ्रमरगीतादौ स्पष्टः। किं च स्वीयपरित्यागभयेन न तदुपेक्षाप्रसक्तिः। यथा जारपत्यादिस्थल इत्येतावन्मात्रेण साम्यमिति ध्येयम्। इत्थं च परकीयप्रेमणि निरन्तरचिन्तनप्रसक्तेस्तस्यैव प्रशस्ततरत्वमित्यादि सिद्धं भवति। अत्रोभयोर्निष्कृष्टलक्षणादिकं कादम्बिन्यां द्रष्टव्यम् ॥४॥

यथोक्तसंस्कारविशेषतो वा
यथोदिताद्दाहविशेषतो वा।
निजास्पदेऽनारतचित्तवृत्ति—
प्रवाहरूपं तमुशन्ति केचित् ॥ ५ ॥

स्वीय प्रेम में बताये हुए विशिष्ट संस्कार से या परकीय प्रेम में बताये हुए विशिष्ट दाह से प्रेमास्पद विषयक चित्तवृत्ति का जो निरन्तर प्रवाह होता है वही प्रेम है ऐसा कुछ आचार्यों का मत है ॥ ५ ॥

यथोक्तेति। न संस्कारविशेषो दाहविशेषो वा प्रेमा। किन्तु ताभ्यां प्रयुक्तः प्रेमास्पदविषयकचित्तप्रवाह एवेत्येके मन्यन्ते। तथा चोक्तः—मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये। मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ लक्षणं भक्तियोगस्येत्यादि ॥ ५ ॥

अन्ये जगुर्लक्षणमात्रमेतत्
लक्ष्यस्वरूपं पृथगेव तस्मात्।
सा ह्लादिनी शक्तिरनन्यरूपा
पराऽन्तरङ्गा भगवत्प्रतिष्ठा ॥ ६ ॥

अन्य आचार्य कहते हैं कि ये सभी तटस्थलक्षण मात्र हैं। प्रेम का स्वरूपलक्षण इनसे पृथक् है। वह ह्लादिनी शक्ति ही है जो भगवान से अनन्य है, परा है, अन्तरङ्ग है, भगवदाश्रिता है ॥ ६ ॥

अन्ये पुनराचार्या मन्यन्ते तटस्थलक्षणमात्रमेतत् । स्वरूपं तु ततः पृथगेव । संस्कारस्य दाहस्य वा जन्यस्य नाशित्वात् । वृत्तीनामपि क्षणभङ्गुरत्वात् । प्रेम्णोऽविच्छिन्नरूपत्वं तु प्रागुक्तम् । तस्मात् ह्लादिनी शक्तिरेव भगवतः प्रेमरूपा । सा भगवतोऽनन्यरूपा । शक्तिशक्तिमतोर्भेदाभावात् । तत्र "ह्लादिनी सन्धिनी संविदभिधानान्तरङ्गिका । तटस्था वहिरङ्गा च जयन्ति प्रभुशक्तयः" इति तिस्रोऽन्तरङ्गवहिरङ्गतटस्थाः शक्तय उक्ताः । अन्तरङ्गास्वपि संधिनीसंविदोः प्रेमरूपत्वं नास्ति । अन्तरङ्गतरा ह्लादिन्येव प्रेमरूपेत्याशयेनाह— परान्तरङ्गेति । परेति शक्तिविशेषणम् । पराचसाऽन्तरङ्गा च परान्तरङ्गेति वा योजना । अन्तरङ्गतरेति तत्रार्थः । सा च भगवत्प्रतिष्ठैव । अतएव भगवान् भक्तिं ददातीति प्रसिद्धिः ॥ ६ ॥

परे परो भक्तिवशः पुमान् श्रुतः
स्वशक्त्यधीनः कथमेव तु स्वयम् ।
ददाति शक्तिं स्वगतां कथं प्रभुः
प्रेम ह्यतोऽनिर्वचनीयमूचिरे ॥ ७ ॥

महान् भक्ताचार्यों का मत है कि—श्रुति में भगवान् को भक्तिवश बताया है । यदि भक्ति ह्लादिनी शक्ति हो तो अपनी शक्ति के अधीन अपने आप कैसे ? भगवान् भक्ति देते हैं तो स्वगत शक्ति का प्रदान कैसे हो । अतः "अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपं" यह नारदोक्त सिद्धान्त ही सम्यक् है ॥ ७ ॥

परे त्विति । अत्रेदमनुसन्धेयम् । प्रेमायमानन्दमयानुराग इत्युक्तं प्राक् । तत्रानुरागो नाम यदीच्छामात्रं तदा तस्याः सर्वस्मिन् देहिनि सत्त्वाद् "मुक्तिं ददामि कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्" इत्यनुपपन्नं स्यात् । किं चेच्छायामानन्दमयत्वं स्वतो नास्ति । तस्या दुःखोत्पादकत्वात् । अलब्धे हीष्टवस्तुनि दुःखं सर्वेषाम् । लब्धे पुनरिच्छैव नेति क्व तत्रानन्दमयत्वादिचिन्ता । उक्तं च दीधित्यादौ 'जिज्ञासाया इच्छात्मकत्वेन दुःखप्रयोजकत्वमि' ति । "सिद्धे नेच्छे" ति च ।

नापीच्छायामानन्दमयत्वं परतः। तथा सति बुभुक्षादेरपि परत आनन्दमयत्वाद् भक्तित्वापत्तेः। किं चेच्छादेर्मायाकार्यत्वाद् भगवतस्तदधीनत्वासंभवाद् "अहं भक्तपराधीनः" "परो भक्तिवशः पुमान्" इत्यादिवचनविरोधः स्यात्। तस्मात् सिद्धत्वे सत्यसिद्धत्वं, स एवानन्दमयानुरागः। नित्यसंयोगनित्यविरहो हि भगवति कृष्णे राधिकादेः। किंस्वरूपं तर्हि प्रेम यद्रूपा भक्तिरिति। तत्र केचिदाहुः। भगवतो ह्लादिनीशक्तिरेव सेति। तत्रेदं चिन्त्यते। सा जीवेषु प्रथमत एवास्तित्वं लभते न वा। आद्ये किं दीयते भगवता। यदुद्दिश्य "भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गवे" त्यादिप्रार्थना प्रवर्त्तते। द्वितीये जीवपरयोरैक्यसिद्धान्ते जीवात्मनि तदनस्तित्ववाचोयुक्तेरनर्थकत्वम्। भेदसिद्धान्ते शक्तिशक्तिमतोर्नित्यसम्बन्धात् स्वनिष्ठाया ह्लादिनीशक्तेः स्वस्मादुद्धृत्य भगवता प्रदानं दुर्घटम्। यदि च जीवे ह्लादिनी शक्तिरुत्पाद्यते तदेव दानमित्युच्यते तदा भगवन्निष्ठा ह्लादिनीशक्तिरित्युक्तसिद्धान्तभङ्गः। किं च स्वनिष्ठाया वा स्वोत्पादिताया वा ह्लादिनीशक्तेर्वशगतो भगवानिति कथं घटते ? यदि तु कल्प्यते लोकाऽसिद्धमपि तर्हि अभिलाषविशेषो मायाकार्यविशेषो वा भक्तिरस्तु तदधीनत्वमप्यलौकिकं कल्प्यताम्। तथा च पृथक्शक्तिकल्पनाविरहाल्लाघवं स्यात्। तस्मादनिर्वचनीयमेव प्रेमस्वरूपम् तथा चाह देवर्षिर्नारदः—"अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्" इति। ह्लादिनीशक्त्यादिप्रतिपादकवाक्यं तु तत्सद्भावमात्रे प्रमाणमस्तु। न तु तस्या भक्तित्वेपि। प्रेम पुनर्व्यापकमेव तत्त्वम्। अविद्याशबलितजीवस्यानिर्वचनीयमायावरणविशेषादप्राप्तवदवतिष्ठते। तदावरणहरणेनाभिव्यञ्जनमेव भगवता तत्प्रदानम्। यद्वाऽनिर्वचनीयतत्स्वरूपतायां सर्वं यथाश्रुतमुपपद्यते, नाधिकं विचारणीयम्। अप्राकृतं दिव्यं प्रेमेति ॥ ७॥

तत्प्रीतिसाक्षात्फललक्षणानि वा
तदर्थसंत्यक्तफलात्मकानि वा।
कर्माणि निर्मूलितकैतवानि चेत्
संयोगसिद्धा भवभक्तिरीरिता ॥ ८॥

संयोगसिद्धा, स्वरूपसिद्धा, स्वभावसिद्धा, अङ्गसिद्धा ऐसी चार प्रकार की भक्ति होती है। इनका क्रमशः लक्षण देखें। भगवत्प्रीति जिनका साक्षात् फल हो, या जिनका फल भगवदर्थं समर्पित किया हो ऐसे कर्मों को संयोगसिद्धा भक्ति कहते हैं॥ ८॥

भगवत्प्रेमैवानिर्वचनीयस्वरूपं दिव्यं भक्तिपदमित्युक्तम्। कथं तर्हि भगवदर्थकर्मणां श्रवणादीनां च भक्तित्वमित्याशङ्कायामौपाधिकभक्तित्वमाह पञ्चभिः। तत्र तावद् भक्तिश्चतुर्धा, संयोगसिद्धा, स्वरूपसिद्धा, स्वभावसिद्धा चाङ्गसिद्धा च। तत्र परमेश्वरभावनासंयोगमात्रप्रयुक्तत्वात् संयोगसिद्धत्वम्। अनियत-तत्संयोगस्य भगवद्विषयस्य स्वरूपसिद्धत्वम्। भगवद्भावनारूपत्वात्स्वभावसिद्धत्वम्। अङ्गभावादङ्गसिद्धत्वम्। आद्यमपि द्विधा। तदुभयं व्याचष्टे तत्प्रीतीति। भगवत्प्रीतिर्भवत्वितीच्छया क्रियमाणं यज्ञदानादिकं पूजासामग्र्युपनयनादिकं च तत्प्रीतिसाक्षात्फलकम्। तत्प्रीतिर्भगवत्प्रीतिः साक्षादेव फलं येषां तानि कर्माणि भगवद्भावनासंयोगसत्त्वात्संयोगसिद्धा। भगवत्प्रीत्यर्थताभावनाविरहे तु न तेषां भक्तित्वम्। भगवत्प्रीतिर्भवत्वित्यनुसंधानं विनैव कर्म कृत्वा भगवते फलं समर्पयामीति भावनासत्त्वे भक्तित्वं यज्ञदानकृषिवाणिज्यादीनां सर्वेषाम्। तदर्थं = भगवदर्थं संत्यक्तानि समर्पितानि फलानि येषां कर्मणां तान्यपि संयोगसिद्धा भक्तिः। भगवदर्थं संकल्प्य पुनः स्वतः फलभोगे छलम्। तद्रहितानि निर्मूलितकैतवानि। तदुक्तं—"धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्रे"ति। भवभक्तिरिति। हरिहरयोरैक्यात्। अभवेति वा छेदः। अजनेतितदर्थः। "यर्ह्येवाजनजन्मर्क्षमि" त्यादिप्रयोगात्। एवमुत्तरत्रापि प्रयोगो द्रष्टव्यः॥ ८॥

अनिच्छया वा स्वपरेच्छया वा
कृतानि नामश्रवणादिकानि।
सकैतवान्येवमकैतवानि
स्वरूपसिद्धां हरिभक्तिमाहुः॥ ९॥

नाम श्रवण कीर्त्तनादि स्वरूपसिद्धा भक्ति हैं। स्वरूपतः वे भक्ति ही हैं अतएव अनिच्छा से हो, स्वेच्छा से हों या परेच्छा से हो, भक्ति ही है। एवं फलाभिलाषा होने से सकैतव हो, फलाभिलाषा न होने से अकैतव हो तो भी श्रवणादि स्वरूपसिद्ध भक्ति ही है ॥ ९ ॥

स्वरूपसिद्धां व्याचष्टे—अनिच्छयेति। श्रवणकीर्त्तनार्चनादीनि स्वरूपसिद्धा भक्तिः। तेषां भक्तित्वाव्यभिचारात्। अतएव यथाकथंचित्कृतान्यपि भक्तिरेवेति द्योतयन् विकल्पयति—अनिच्छया वेत्यादि। अकैतवानि सकैतवानीति द्वेधा फलेच्छातदभावाभ्याम्। पुनस्त्रेधा। स्वेच्छाप्रापितानि परेच्छाप्रापितानि अनिच्छाप्रापितानीति। आद्यं प्रसिद्धम्। पित्राद्यादेशकृतं द्वितीयम्। कुक्कुरभीतश्येनादेर्देवालयप्रदक्षिणादि तृतीयम्। अत्राहुः। नवधाभक्तावनन्तर्गतं सामग्र्युपनयादि कर्म संयोगसिद्धा। तदन्तर्गतं श्रवणादि पूजादि च स्वरूपसिद्धा। स्मरणादि नवधान्तर्गतमपि स्वभावसिद्धेति। भगवद्भावनाविरहेऽपि अजामिलकृतनामकीर्त्तने स्वरूपसिद्धत्वमेव ॥ ९ ॥

पराभवद्वैषयिकप्रवृत्ते—
मंतेरविच्छिन्नगतिर्महेशे।
समाधिलक्ष्मा निरुपाधिभावा
स्वभावसिद्धा परमेशभक्तिः ॥ १० ॥

स्वभावसिद्धा भक्ति निरुपाधिक तथा सोपाधिक भेद से दो प्रकार की है। उनमें निरुपाधिक स्वभावसिद्ध यह है कि विषयकार वृत्ति को पराभूत कर परमेश्वर में स्वयमेव मन की अविच्छिन्न धारारूप से गति होना। यह समाधिरूप है ॥ १० ॥

स्वभावसिद्धा भक्तिर्द्वेधा। निरुपाधिका सोपाधिका च। आद्या समाधिलक्षणा। द्वितीया धारणारूपा। एतद् द्वयमेव भगवता "मय्येव मन आधत्स्वे" त्यादिना "अभ्यासयोगेन तत" इत्यादिना च गीतासूक्तम्। तत्क्रमेणैवात्रोभयं निरूपयति द्वाभ्याम्। पराभवदिति। पराभवन्ती विषयविषयिणी प्रकर्षवती वृत्ति-

यस्याः सा तथा तस्या मतेस्तैलधारावदविछिन्ना महेश्वरे या गतिः सा समाधिलक्षणा परमेशभक्तिर्निरुपाधिकस्वभावसिद्धा । "मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये । मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधावि" त्यादेः । ननूपाधिवशाद्भेचतुष्टयं प्रेम्णः प्रागुक्तं, कथं निरुपाधिकत्वमिहोच्यत इति चेन्न । समाधावपि वृत्तिसत्त्वात् । तथा चोक्तं "वृत्तयस्तु तदानीमज्ञाता अप्यात्मगोचराः । स्मरणादनुमीयन्ते व्युत्थितस्य समुत्थिताद्" इति । भगवत्पतञ्जलिमतेऽपि "विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः" इत्यसंप्रज्ञाते संस्कारोपाधित्वमस्त्येव । एतदेवाभिप्रेत्यात्र प्रवृत्तेरित्यत्र प्रोपसर्गः । तथा च निरुपाधिभावेत्यपि निरुपाधेर्भाव इव भावो यस्याः सेति व्याख्येयम् । अयत्नसिद्धत्वात्मकनिरुपाधिभावस्य समाधावपि सत्त्वात् । नन्वेवं संसारकाले निरुपाधि प्रेमैव न स्यादिति चेन्न । प्रेम स्वतो निरुपाधिकमेव स्वरूपतः । तत्पुनरुपाधिसांनिध्ये सोपाधिवद्भाति । प्रेमसम्बन्धात्तु कर्मणां श्रवणादीनां च प्रेमरूपत्वं भक्तिरूपत्वं वा । प्राकृतं नामादिकं दिव्यसम्बन्धाद्भक्तिरूपम् । तदभ्यासाभिव्यङ्ग्यदिव्यनामादि स्वतःप्रेमरूपमेवेत्यादिकं तु भक्तिदर्शनवार्त्तिके विस्तरः । "तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिरि"ति भगवत्पतञ्जल्युक्तेर्निर्बीजे संस्कारस्यापि विरहात्तत्र निरुपाधिकं शुद्धं प्रेमैव । तत्प्रतिबिम्बमात्रं श्रवणादावित्यादि मतान्तरविस्तरः कादम्बिन्याम् ॥ १० ॥

निवर्त्य चित्तं बलतोऽखिलेभ्यः
प्रवर्त्तितेऽभ्यासभरेण विष्णौ ।
तदेकतानत्वमुपाधिमिश्रा
स्वभावसिद्धा हृदि धारणाख्या ॥ ११ ॥

समस्त विषयों से बल पूर्वक लौटाकर निरन्तर अभ्यास से हृदि स्थित भगवान में स्थिर किये चित्त में जो भगवदेकतानता होती है उसे धारणानामक सोपाधिक स्वभावसिद्धा भक्ति कहते हैं ॥ ११ ॥

निवर्त्येत्यादि । सयत्नत्वादुपाधिमत्त्वम् । यद्यपि वक्ष्यमाणे सप्तप्रकारे स्मरणे दास्यादिके चापि स्वभावसिद्धभक्तित्वं युक्तमिति द्वयोरेव स्वभावसिद्धत्वकथन-

मयुक्तम् । तथापि उपदर्शितगीतावचनानुसारेण द्वयोर्ग्रहणमत्र कृतम् । परे तु स्मरणादेः स्वरूपसिद्धत्वमेव । घटादिस्मरणस्याऽभक्तित्वात् । न चैवं धारणादेरपि तथात्वं स्यादिति वाच्यम् । "देशबन्धश्चित्तस्य धारणे" तिसूत्रभाष्ये नाभीचक्रादीनां बाह्यविषयाणां च देशत्वकथनेन विषयान्तरधारणाया अपि परम्परया भक्ति-साधनत्वेन भक्तित्वसंभवात् । एतदनुसारेण लक्षणान्यपि कार्याणि धारणया ध्यानमपि ग्राह्यम् । समाधिना निर्विकल्पसविकल्पादि सर्वमिति प्राहुः ॥११॥

तदङ्गभावं प्रतिपद्यमाना-
न्यसङ्गतादीनि गुणात्मकानि ।
सोपाधिकान्यप्यनुपाधिकानि
ब्रुवन्ति भक्तिं मुनयोऽङ्गसिद्धाम् ॥१२॥

भक्ति के साथ अङ्गाङ्गि भाव को प्राप्त हुए असंगता अमानिता आदि अंगसिद्धा भक्ति है। वह भी पूर्ववत् सोपाधिक तथा निरुपाधिक दो हैं। स्वभावतः असंगता आदि हो तो निरुपाधिक है। और प्रयत्न-पूर्वक हो तो सोपाधिक है ॥ १२ ॥

तदङ्गेत्यादि । "सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गं च साधुषु" इत्यादीनि भागवतैकादशतृतीयोक्तानि "अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्" इत्यादीनि गीताद्वादशोक्तानि च यथायोग्यमङ्गसिद्धा भक्तिः । अत्र यदन्यथान्यथा संयोगसिद्धादीनां व्याख्यानमन्यैः कृतं तत्र चिन्ता कादम्बिन्याम्"

इति प्रथमं प्रकरणम्



सोऽयं प्रेमरसः स्वयं हि घटते संवर्धमानः शनै-
रानन्त्याय सितेन्दुवत् सुविमलः पाराह्णिकच्छायवत् ।
व्यामोहः स परिक्षयेण विरसः सम्पद्यमानः क्रमा-
दस्तं यस्त्वयतेऽसितेन्दुरुचिवत् प्राह्णेतनच्छायवत् ॥१३॥

पूर्वोक्त रसात्मक प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है, और शुक्लपक्ष के चन्द्रमा के समान या दोपहर की छाया के समान बढ़ता-बढ़ता अनन्तता को प्राप्त होता है। वह व्यामोह मात्र है (प्रेम नहीं) जो क्रमशः क्षीण होता हुआ नीरस हो जाता है और कृष्णपक्षके चन्द्रमा के समान या प्रातःकाल की छाया के समान घटता-घटता अन्त में अस्त हो जाता है ॥ १३ ॥

प्रतिक्षणवर्धमानत्वविशेषणेन दर्शनीयं मोहवैलक्षण्यं स्फुटयति सोऽयमिति । सितेन्दुवदिति । शुक्लपक्षचन्द्रो वर्धमानः पूर्णवृत्ताकारो भवति । वृत्तस्य चाद्यन्त-रहितत्वादनन्ततायां दृष्टान्ततोपपत्तिः । लौकिकप्रतीत्यनुसारेण च्छायोदाहरणम् । ननु कथं प्रेम्णो वर्धमानत्वम् । उच्यते । अवर्धमानस्यापि चन्द्रमस आवरणभङ्गे न वर्धमानत्ववदत्राप्युपपत्तिः । अनात्मांशपरित्यागक्रमिकतया वा वर्धमानत्वम् । मोहे प्रथमं किंचिदात्मांशविषयत्वं तत्परित्यागक्रमिकतया क्षीयमाणत्वं च ॥ १३ ॥

प्रेमायं प्रकटीभवन् सुकृतिनां नैमित्तिको यद्यपि
स्यादानन्त्यपथोपकल्पितगतिः पश्चादनैमित्तिकः ।
इत्थं चैव निमित्तहानजनितान्नैमित्तिकापायना-
दुत्तीर्णः स भवान्तरेष्वपि भवेदुच्छित्तिहीनः सताम् ॥१४॥

यद्यपि यह प्रेम प्रथम नैमित्तिक (सौन्दर्य माधुर्य आदि निमित्तजन्य) होता है। किन्तु प्रतिक्षण वर्धमान होकर अनन्तता की ओर बढ़ने लगता है तो वही अनैमित्तिक हो जाता है। नतीजा यह कि निमित्तनाश से

जो नैमित्तिक नाश हुआ करता है, उस नियम से ऊपर उठकर जन्म-जन्मान्तर तक भी नाश रहित हो जाता है ॥ १४ ॥

अपेतविच्छेदत्वमुपपादयति-प्रेमायमिति । नैमित्तिकः—सौन्दर्यमाधुर्यादि-निमित्तजन्यः अनैमित्तिकः स्वप्रयोज्यत्वात् । यथा हि दम्पत्योः प्रथमतः सौन्दर्यादि-निमित्तोऽपि पश्चादात्मप्राधान्येन नष्टेऽपि सौन्दर्यादावनुवर्त्तते प्रेमा । यद्यपि भगवतः सौन्दर्यादिकं लौकिवन्न क्षणभङ्गुरं, नित्यत्वोपगमात् । तथापि भगवत्सौन्दर्यादेरप्रत्यक्षत्वात् प्रथमं सौन्दर्यादिश्रवणाद्वाऽर्चाविग्रहादि-सौन्दर्यादिदर्शनाद्वा प्रेमोत्पत्तिः स्यात् । तच्च निमित्तं न शाश्वतमिति नैमित्तिकापाय संभावना विद्यत एव । साप्यानन्त्यपथोपकल्पितगतेर्निवर्त्तत इति ॥ १४ ॥

पूर्वं सैष निजास्पदेऽपरिमितः संपद्यमानः पुन-
स्तत्सम्बन्धिषु तद्रजोऽवधिषु हि व्याप्नोत्यसंकोचतः ।
ईशस्यैष पदाम्बुजे प्रतिसरन् सर्वस्य तज्जत्वतो
विश्वप्रेमविधामुपैति विबुधास्तामेव भक्तिं जगुः ॥१५॥

यह प्रेम प्रथम प्रेमास्पद में होता है। वह बढ़ता हुआ वहाँ समाता नहीं तो बाहर की ओर फैलने लगता है। तब वह प्रेमास्पद के संबंधी मित्र, वस्त्र, छाता, जूता यहाँ तक को उसकी धूली में भी असंकुचित रूप से व्याप्त होता है। यह प्रेम भगवान के चरण कमलों में प्रसारित होता है तो सारा जगत् भगवदुत्पन्न अतएव भगवत्संवन्धी होने से उन सब में व्याप्त होकर विश्वप्रेम का स्वरूप धारण करता है। विद्वान लोग उसी को भक्ति कहते हैं ॥ १५ ॥

पूर्वमिति । सैष इति "सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणमिति" सुलोपात् । व्याप्नोतीति । दृश्यते हि प्रियविरहकाले तदीयच्छत्रोपानहादेरपि वक्षःस्थले निधानादिकम् । कथं तर्हि सपत्नीद्वेष इति चेत् । न तत्र प्रेमा, किन्तु मोह एव

उदाहरणमात्रं साम्यात् । तत्सुखसुखित्वनियमात् प्रेमणि । एवं सति सर्वस्य जगतो भगवत्सम्बन्धित्वे स्थिते सत्यपि परनिन्दादिकारिणो भक्तंमन्याः क्षन्तव्याः ॥ १५ ॥

मोहं तमाहुस्तमसाऽऽवृतो यः
कामं च रागं रजसाधिरूढम् ।
प्रेमाऽविदुर्निर्मलसत्त्वनिष्ठं
तथा परप्रेम गुणप्रहाणात् ॥ १६ ॥

तमोगुण से आवृत राग मोह कहलाता है, रजोगुण से आवृत राग काम कहलाता है, निर्मल सत्त्वगुण में स्थित राग प्रेम माना है, वही गुणातीत अवस्था में परम प्रेम कहा गया है ॥ १६ ॥

व्यामोहः स परिक्षयेणेत्यादिकमुक्तम् । तत्प्रसङ्गेन मोह-काम-प्रेम-परमप्रेमसु वैलक्षण्यमाह—मोहमिति । तत्तद्व्यक्तिविशेषं प्रति तत्तद्गुणोद्भवाभिभवाभ्यामेकत्रैव मोहादय इति सांख्याः । तथा चानात्मप्रधाने एव तमोगुणप्राधान्ये मोहः, रजोगुणप्राधान्ये काम इत्याद्यनुसन्धेयम् । मतान्तरे मानसिकतमोगुणाद्युद्भवाभिभवाभ्यामेव मोहादिस्वीकारान्मनस एव तमोगुणाद्यावृतत्वसमये आत्मनस्तारतम्येन भानम्, यथा शैवलावृते सरसि सूर्यादिर्मन्दतमः प्रतिबिम्बः । विक्षिप्तपयसि मन्दः । विशुद्धे स्फुटः । जलोपाधिपरित्यागे शुद्धबिम्बदर्शनमिति । एतेन गुणोज्झितमित्यादि व्याख्यातम् ॥ १६ ॥

मिथ्याबुद्ध्या सकलजगतीं संप्रबाध्येक्ष्यतेऽत्र
ब्रह्मैकं यद्धयवधिविधया ज्ञानमाहुः परं तत् ।
विश्वस्मिन् स्वप्रियतमपरब्रह्मसंदर्शनात् स्याद्
बाधो यत्र स्वयमिव परं प्रेम तच्च ब्रुवन्ति ॥१७॥

ज्ञान और प्रेम में क्या फरक ? यही कि ज्ञान में प्रथम मिथ्यात्वनिश्चय से जगत् का बाध होता है, फिर अधिष्ठान ब्रह्म का दर्शन होता है। भक्ति में प्रथम सर्वत्र प्रियतम भगवान् का दर्शन होने लगता है। बाद में जगत का बाध अपने आप होने लगता है ॥ १७ ॥

प्रेमव्यामोहयोर्वैलक्षण्यमुक्त्वा तत्प्रसङ्गात् प्रेमज्ञानयोरपि वैलक्षण्यं दर्शयति—मिथ्येत्यादि । विस्तरः कादम्बिन्याम् ॥ १७ ॥

यत् स्वीयप्रियवस्तुनोऽर्पणविधावीहा तदर्थं परा
यत् कर्त्तुं सकलानि निर्मलमतिः कर्माणि तत्प्रीतये ।
तस्यैकक्षणविस्मृतावुदयते यद् व्याकुलत्वं महत्
तच्चिह्नं परमं वदन्ति परमप्रेम्णः प्रलीनैनसः ॥१८॥

निष्पाप निर्दोष परम प्रेम का उत्तम चिह्न यही है कि अपनी प्रिय वस्तुओं को प्रेमास्पदार्थं समर्पण करने की सर्वदा परम अभिलाषा बनी रहती हैं, प्रत्येक कर्म करते समय यही इच्छा होती है कि इससे प्रियतम की प्रसन्नता हो और प्रेमास्पद की क्षणमात्र विस्मृति भी होने पर भारी व्याकुलता होती है ॥ १८ ॥

"नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे, परमव्याकुलता चे" ति सूत्रमनुसृत्य प्रेमलक्षणमाह—यदिति । तच्चिह्नमिति । "गुणोज्झित" मित्यादिना स्वरूपलक्षणमुक्तम् । इदं तु चिह्नमात्रम्। "तस्या लक्षणानि गायन्त्याचार्या" इत्यत्रापि लक्षणपदं चिह्नपरम् । "चिह्नं लक्ष्म च लक्षणमि" त्यमरवचनात् । अन्यथा "सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा" "अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपमि" त्याभ्यां विरुध्येत । ननु विस्मरणे कथं व्याकुलता । न हि पुत्रविस्मरणे पुत्रविरहकृतव्याकुलता लोके ऽपलभ्यत इति चेन्न । दृढतरसंस्कारसत्त्वेन किमपि मे नष्टं किमपि मे निर्गतमिति विस्मरणकालेऽपि व्याकुलतोपपत्तेः । श्लोकविस्मरणे विद्यार्थिनामिवेत्यन्ये । "त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यतामि" त्युदाहरिष्यमाणत्वाददर्शनपरं वा विस्मरणम् ॥१८॥

त्रुटिर्युगायेत यया, समस्तं
जगत् प्रतीयेत निरस्तसारम् ।
अपश्यतो विस्मरतः प्रियं, तां
परामिमां व्याकुलतां गिरन्ति ।। १९ ।।

प्रियतम के अदर्शन या विस्मरण में क्षण युग समान बीते, जगत फीका होने लगे तो उसे परम व्याकुलता कहते हैं ।। १९ ।।

यद् व्याकुलत्वं महदित्युक्तायाः परमव्याकुलतायाः स्वरूपं निरूपयति-त्रुटिरिति द्वाभ्याम् । तद्विस्मरण इत्यत्र विस्मरतिरदर्शनार्थक इति दर्शयितुमपश्यतो विस्मरत इत्युभयं चकारेण विना पठितम् । अथवा दिदृक्षमाणस्य सतोऽपश्यतः, दिध्यासोः सतो विस्मरत इति व्याख्येयम् । "अटति यद्भवानह्नि काननं त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यतामि" त्यादिकमदर्शनोदाहरणम् । भगवन्तं ध्यायतो ध्रुवसुतीक्ष्णादेर्ध्यानाद्भगवतोऽपनये जाता व्याकुलता विस्मरणस्थलोदाहरणम् । वस्तुतस्तु ध्यानपरिपुष्टौ प्रत्यक्षवदवलोकनं भवति । अत एव "य एवं वेद" त्यादौ वेदेत्युपासनार्थकम् । परिपक्वोपासनाया वेदनरूपत्वात् । तथा च त्वामपश्यतामित्यनेनैव गतार्थम् । सूत्रेऽपि विस्मरणपदं तादृशोभयविधदर्शनराहित्यपरम् ।। १९ ।।

ज्वलन्त्यवह्नि स्वयमङ्गसंहता-
न्यपेषकं हृत् परिपिष्यते यतः ।
अलुञ्चकं मांसकचादि लुञ्च्यते
प्रियाग्रहे व्याकुलतां वदन्ति ताम् ।। २० ।।

प्रियतम के विरह में बिना अग्नि अंग जलने लगते हैं, बिना सिल बट्टा हृदय पिसने लगता है, नोचनेवाले के बिना ही मांस केशादि नुचने लगते हैं, यही महा व्याकुलता है ।। २० ।।

त्रुटिर्युगायेतेति कालविप्लव उक्तः । जगन्निरस्तसारमिति जगद्विप्लवः । वस्तुविप्लवमाह—ज्वलन्तीति । प्रियाग्रह इति । दर्शनस्मरणोभयसंग्राहकं ग्रहपदम् । पूर्ववद्वा ।। २० ।।

पत्युः प्रणाशे तदुपाश्रितायाः
कुटुम्बभर्त्तुर्विहतौ स्ववृत्तेः ।
प्रकम्पने कम्पितपोतयातु-
र्दावानले काननमध्यगस्य ॥ २१ ॥

अपश्यतो मातरमर्भकस्य
पान्थस्य च प्रस्मृतसत्पथस्य ।
या या भवेद् व्याकुलताखिलेव
सा संहता व्याकुलता परा स्यात् ॥२२॥

पति के गायब होने पर नलपत्नी दमयन्ती के समान, जीविका नष्ट होने पर कुटुम्बभारवाले गृहस्थ के समान, आंधी तूफान में डोलती हुई नांव में बैठे यात्री के समान, चारों ओर दावानल लगने पर वनमध्य में फंसे परदेसी के समान, माता के न दीखने पर एकाकी शिशु के समान, रास्ता भूल जाने पर भटकते पथिक के समान भगवत् दर्शनार्थ मानो ये सब व्याकुलतायें एक साथ हो गयी हों ऐसी व्याकुलता परम व्याकुलता है ॥ २२ ॥

परमव्याकुलतामनिर्वचनीयस्वरूपामपि कथंचिन्निर्वक्तुं गमयितुं वाऽऽह-पत्युरित्यादि श्लोकद्वयेन ॥ २१ ॥ २२ ॥

सेयं दिदृक्षोर्भगवत्स्वरूपं
न्यरूपि भक्तेः कविभिः स्वलक्ष्म ।
तया विधूताखिलशैवले स
प्रकाशते क्वापि च पुण्यपात्रे ॥२३॥

भगवान के दर्शनार्थ ऐसी (पूर्वोक्त सकल व्याकुलता जैसी) व्याकुलता हो तो वही भक्ति का लक्षण (चिन्ह) है। उस (व्याकुलता)

से चित्त पर लगे शेवाल सदृश आवरण की निवृत्ति होने पर ऐसे किसी बिरले पुण्य पात्र में भगवान का प्रकाश होता है ॥ २३ ॥

सेयमिति । कविभिः=नारदाद्यैः । स्वलक्ष्म=भक्तिचिन्हम् । न केवलं लक्षणमात्ररूपेयं व्याकुलता । किं तर्हि ? आवरणमलापहारिण्यपीत्यह-तयेति । एतच्च द्वितीयस्यां स्पष्टीभविष्यति । ततश्च किं ? तत्राह सेति । सा भक्तिर्विधूत-शैवलतया क्वापि पुण्यपात्रेऽपगतशैवले सरसि सूर्यादिरिव प्रकाशते । तथा च सूत्रम्: "प्रकाशते क्वापि पात्रे" इति ।।२३।।

मा गा व्याकुलतां वृथा सुतसुहृद्भार्यावियोगात् सखे
सेयं ते हृदयं सकायमखिलं दग्ध्वा स्वयं नङ्क्ष्यति ।
तस्मै व्याकुलितो भवानवरतं लभ्येत यत् प्रेप्सुभि-
र्यत्सद्यः सकलं विधूय जगतः क्लेशं शमं यच्छति ।।२४।।

हे मित्र ! सुत, सुहृत्, पत्नी आदि के वियोग से व्याकुल मत हो। यह व्याकुलता हृदय शरीर आदि को जलाकर अन्त में स्वयं नष्ट होने वाली है। उसके लिए व्याकुल हो जो नित्य प्राप्त हो सकता है तथा प्राप्त होने पर क्लेश मिटा कर जगत को शान्ति प्रदान करता है ॥ २४ ॥

भगवदर्थव्याकुलतां फलप्रदर्शनेन समर्थ्य संप्रति संसारविषयकव्याकुलतां फलशून्यतया विपरीतफलतया च हातुमुपदिशति-मा गा इति । मा प्राप्नुहीत्यर्थः । "इणो गा लुङि" । वृथेति । नष्टेषु सुतादिषु पुनः प्राप्त्यसंभवात्, प्राप्तस्यपि स्थायित्वायोगात्, परमफलदायित्वविरहाच्चेति भावः । एतद्वैपरीत्येन च सेयं-व्याकुलता तव हृदयादिकं धक्ष्यति । न वा परमफलाय स्यास्यति, स्वयमपि कालान्त-रे नङ्क्ष्यत्येव । भगवद्विषयकव्याकुलतायां नैतत्सर्वमिति सूचयन्नाह-तस्मै इति । न हि सुतादिवत् परमात्मा नाशवान् । क्लेशहारिणी च शान्तिदायिनी चेयं-व्याकुलता ॥ २५ ॥

अन्ने यः क्षुधितस्य पाथसि तथोदन्यावतो गल्भते
भोगे चानुकचेतसः सुहृदि सप्रीतेः प्रियायाः प्रिये ।
यश्च स्वप्रसुवि स्तनन्धयशिशोः प्रेमा स सर्वोऽपि च
श्रीकृष्णे समवैति चेदभिदधुर्भक्तिं परां तां बुधाः ॥ २५ ॥

अन्न में भूखे का जो प्रेम होता है, पानी में प्यासे का, भोगों में कामी का, सुहृदय मित्र में प्रियमित्र का, प्रिय पति में पत्नी का, और माता में स्तन्य पीने वाले शिशु का जो-जो प्रेम होता है वह सब एक साथ श्रीकृष्ण में एकत्रित हो जाय तो उसे ही विद्वान् लोग भक्ति कहते हैं ।।२५।।

परमव्याकुलतायाः स्थूलं लक्षणं "पत्युः प्रणाशे" इत्यादिनाभिहितम् । एवंविधं स्थूलं लक्षणं प्रेम्णोऽपि संभवत्यनिर्वचनीयस्यापीत्याशयवान् भक्तेर्नानाविधलक्षणदिदर्शयिषया दर्शयति-अन्न इति । उत्कृष्टोदाहरणप्रदर्शनमात्रपरमिदम् । वस्तुतो जगदर्थप्रेमसमवायो विवक्षित इत्युत्तरत्र स्पष्टीभविष्यति । चेदिति संभावनायाम् ॥ २५ ॥

प्रेम्णस्तन्तून् बिसमृदुतरान् दारपुत्रादिकेषु
स्वैरं विद्वन् कथमिव भवान् सीव्यतीमान् विभज्य ।
भेत्स्यन्तेऽमी क्षणलघुतराघातमात्रात्ततस्तैः
कृत्वा शुल्वं हरिचरणयोः खल्वमुं संसिनोतु ॥ २६ ॥

प्रेम के ये तन्तु कमलनाल के तन्तुओं से भी अधिक मृदु हैं । इन्हें अलग-अलग एक-एक कर दारपुत्रादि के साथ बड़े विश्वास से क्यों आप बाँध रहे हैं ? आप समझदार हैं । इतना तो समझें कि जरा-सा झटका लगते ही ये सब टूट जायेंगे । अतः इन तन्तुओं से एक मोटी रस्सी बनाकर उसे भगवत्चरणों के साथ बाँधो ॥ २६ ॥

लौकिकदृष्टया विषयप्रेमभगवत्प्रेम्णोर्भेदविरहाद् यावद्विषयाकर्षणं तावद् भगवत्प्रेमादर्शनाच्चैकीकृत्यैव तदुभयं विषयमोहपरिहाराय रूपकेणोपदिशति—प्रेम्ण

इति । तन्तव इव तन्तवस्तान् । बिसादपि मृदुतरान् । स्वैरं सविश्वासं निर्भयम् । क्षणलघुतराघातेति । पुत्रादिषु क्लेशप्रदेषु प्रेमहानिर्दृश्यते । पुत्रादिनाशेऽपि कालान्तरे प्रेमलोपो भवति । ततश्च तेभ्यः प्रेमतन्तूनपास्य तैरेव शुल्वं पाशं विरचय्य संक्षिनोतु संबध्नातु । तन्तूनां निर्बलतया प्रध्वंसित्वेऽपि तद्रचितपाशस्याऽतथात्वात् । तथामृदुलतूलनिर्मिततन्तूद्भवरज्जुषु दृष्टत्वात् ॥ २६ ॥

त्वं मातापितरौ त्वमेव च सुतस्त्वं बान्धवस्त्वं सुहृत्
त्वं विद्या वसु च त्वमेव सकलं त्वं देहगेहादिकम् ।
इत्येवं भगवन्तमेव जननीतातादिभावेन भो
निध्यायन् प्रणिधेहि सर्वविषयप्रेमाणमीशे सदा ॥२७॥

तुम ही माता-पिता हो, तुम ही पुत्र हो, तुम ही बन्धु हो, तुम ही मित्र हो, तुम ही विद्या हो, तुम ही धन हो, तुम ही देह गेहादि सभी हो इस प्रकार भगवान को ही माता-पिता आदि के भाव से देखते हुए माता-पिता, पुत्र-बन्धु आदि में जो प्रेम है उसे भगवान में ही हमेशा करो ॥ २७ ॥

ननु विषयाणां प्रेम्णस्ततोऽपसारणेन भगवति सम्बन्धनमप्रामाणिकमित्याशङ्कायां "त्वमेव माता च पिता त्वमेवे" त्याद्याप्तवचनस्य तत्र प्रमाणतां सूचयंस्तदेवार्थतः पठित्वा तत्तात्पर्यं दर्शयति-त्वमिति । अत्र त्वंपदार्थं भगवन्तमुद्दिश्य मातृभावादिविधानान्मातृप्रभृतिरूपेण भगवन्तं निध्यायतस्तत्सर्वविषयकप्रेमास्पदत्वं भगवत एवेत्युक्तं भवति । तदाह-इत्येवमिति । निध्यायन्=पश्यन् ॥ २७ ॥

यद्वोद्देश्यविधेयभावकलनाव्यत्यायनेनाखिलं
तातं मातरमात्मजं सहचरं देहादि गेहादि च ।
संपश्यन् खलु विश्वमेव भगवद्भावेन दिव्यात्मना
सर्वस्मिंस्तनुयाः सदा हृदि हरिप्रेमैव भक्त्याह्वयम् ॥२८॥

अथवा "त्वमेव माता च" इत्यादि में उद्देश्य-विधेय भाव बदल कर ('तुम ही माता हो' यहाँ भगवान् उद्देश्य और माता विधेय है। 'माता तुम ही है' यहाँ माता उद्देश्य भगवान् विधेय है। इनमें द्वितीय प्रकार से) माता, पिता, पुत्र, साथी, देहादि एवं गृहादि सबको दिव्य भगवद्भाव से देखते हुए सर्वत्र भगवत्प्रेमरूपो भक्ति का हृदय से सदा विस्तार करो ॥ २८ ॥

यद्वेति। त्वं मातेत्यादौ त्वंपदार्थे भगवति मातृत्वादिदर्शनम्। माता त्वमेवेत्यादौ मातृप्रभृतिषु भगवत्त्वदर्शनम्। अयमेवोद्देश्यविधेयभावव्यत्ययः "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" तिश्रुतेः सर्वत्र ब्रह्मदर्शनं बोध्यम्। तदानीं प्रातिस्विकतत्तद्रूपाणां शनैर्बाधात्तद्गतं प्रेम स्वत एव भगवति संपद्यते। घटचूर्णीकरणे घटगतघृतादिस्नेहस्य स्वतो मृत्तिकायामवस्थितिवत्। एवं स्थिते ज्ञानिनां परमात्मनि प्रेमा स्वत एव भवति। "पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मे"त्यात्मनि परप्रेमसिद्धेरहं ब्रह्मास्मीत्यहमर्थबाधे तत्प्रेम्णो ब्रह्मणि स्वतः सम्पत्तेश्च ॥ २८ ॥

हेयो रागो विविदिषुजनानर्थकारी विकारी
हातुं वैनं यदि न सहसे तर्ह्युपायं ब्रवीमि।
आधेहि त्वं सकलभुवने सच्चिदानन्दसान्द्र-
श्रीगोविन्दप्रयतचरणाम्भोजसम्भूतिदृष्टिम् ॥२९॥

विषयराग त्याज्य है। मुमुक्षुओं के लिए वह अनर्थकारी है, विकारोत्पादक है। विषयराग को त्यागने में यदि अपने को असमर्थ पाते हो, तो उपाय बताऊँ—सकल भुवन में ऐसी दृष्टि करो कि ये सब सघनसच्चिदानन्द पावन भगवच्चरण कमल की संभूति हैं ॥ २९ ॥

उक्तमर्थं भङ्ग्यन्तरेणाह-हेय इति। विषयरागो हेय एव। कुतः ? विविदिषुजनानामयमनर्थकारी यतः। कथमनर्थकारित्वं ? तत्राह-विकारीति। विकारयति चित्तमिति विकारी, विकारः कार्यत्वेनास्यास्तीति वा। यदि वा एनं रागं हातुं नोत्सहसे तर्ह्युपायं ब्रवीमि। सकलेभुवने भवतीति भुवनं कार्यमात्रं तत्र। सच्चिदा-

नन्देन सान्द्रं, सान्द्रसच्चिदानन्दमिति यावत् । यत् श्रीगोविन्दस्य प्रथतं पवित्रं चरणाम्भोजं तत्संभूतिदृष्टिमाधेहि । संभूतिर्विभूतिः । भगवत्संभवाद्भगवद्रूपता वा । संभूतिं च विनाशं चेत्याद्युक्तभगवज्जातहिरण्यगर्भदृष्टिं वा । सर्वेषु पक्षेषु भगवद्दृष्टिसत्त्वेन रागस्य नानर्थकारित्वमिति भावः ।। २९ ।।

मायाद्वन्द्वमिदं जगद्धि सकलं तत्रानुबद्धं विदू
रागं बन्धनिबन्धनं मुनिवरा मोहान्धकारोदयम् ।
प्रोचुः संसृतिमोक्षणे च निपुणं ज्ञानप्रकाशाश्रयं
रागं नाम तमेव मापतिपदद्वन्द्वानुबद्धं शुभम् ।।३०।।

यह सम्पूर्ण जगत् शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि मायामय द्वन्द्वरूप है। उसमें जुड़ा हुआ राग बन्धन का कारण है, मोहान्धकार उत्पन्न करता है, ऐसी ऋषियों की मान्यता है। इसके विपरीत हरिचरणारविन्द द्वन्द्व में अनुबद्ध वही शुभ निष्काम राग संसार से मुक्ति दिलाने में निपुण है। क्योंकि वह ज्ञान प्रकाश का आधार है ।। ३० ।।

विषयरागस्य हेयत्वं भगवद्रागस्योपादेयत्वं च हेतुप्रदर्शनेन प्रतिपादयति-मायेति । शीतोष्णसुखदुःखादित्वं मायाकार्यात्मकं द्वन्द्वम् । तत्रानुबद्धं रागं बन्धस्य निबन्धनं कारणमाहुः । कुतः ? मोहान्धकारस्योदयो यस्मात् स तथाभूत-इति । इदमपरं द्वन्द्वम् । किं ? मापतेः—रमापतेश्चरणारविन्दद्वन्द्वम् । तत्रानुबद्धं शुभं निष्कामं तमेव रागं संसृतिमोक्षणे निपुणं प्रोचुः । कुतः ? । ज्ञानप्रकाशस्याश्रयत्वात् । तदुद्धारकत्वेन तदाश्रयत्वं बोध्यम् ।। ३० ।।

जम्बीरेऽम्लं भवति, कटुकं चैव निम्बे यदम्बु
द्राक्षाविष्टं भवति मधुरं पुष्टिदं तद् यथैव ।
द्युम्ने लोभात्मकमथ भवेत् कामनाम स्त्रियां यत्
प्रेमोदारं हरिपदगतं भक्तिरूपं तदाहुः ।।३१।।

जो पानी जंबीर में खट्टा और नीम में कड़ुआ होता है वही द्राक्षा में आकर मधुर और पुष्टिकारी होता है। वैसे ही जो प्रेम धन में

लोभरूप और स्त्री में कामरूप होता है वही उदार प्रेम हरिचरणों में भक्ति होकर मधुर एवं पुष्टिकारी होता है ॥ ३१ ॥

विषयप्रेमभगवत्प्रेम्णोरत्यन्ताऽभेदं विषयभेदेन नामरूपगुणादिभेदं चाङ्गीकुर्वतां मतं दृष्टान्तेनोपपादयति-जम्बीर इति। वृष्टयादिपतिते तोये नास्ति किंचन वैलक्षण्यम्। तज्जम्बीरादौ प्रविष्टं तत्तद्रूपगुणादियुक्तं भवति। द्राक्षायामाविष्टं मधुरं च पुष्टिदं च भवति। एवमेव द्युम्ने=धने प्रविष्टं प्रेम लोभो भवति, स्त्रियां कामः। हरिपदगतं चोदारं सद्भक्तिरूपं भवति। तच्च मधुरं पुष्टिदं च। रसरूपत्वान्मधुरं, पुष्टिरनुग्रहः। भगवदनुग्रहकरं तद्भवतीति ॥ ३१ ॥

पूजादावनुरागमेव भगवद्भक्तेः शमैकायनं
प्रावोचद्भगवान् पराशरसुतश्चिह्नात्मकं लक्षणम्।
सांनिध्यं हि विभाव्यते भागवतः सेव्यं तमीशं प्रति
स्वीयाकिंचनता च तत्र निरहंकारश्च भाति स्फुटम् ॥३२॥

परमशान्ति का एकमात्र साधनस्वरूप पूजादि-अनुराग ही भक्ति का चिन्हात्मक लक्षण है ऐसे भगवान व्यास कहते हैं। क्योंकि पूजादि में भगवान् पास ही है ऐसी सांनिध्यकी भावना रहती है, भगवान् सेव्य होने से अपनी अकिंचनता भी उसमें भासती है। सच्चा सेवक अपना अलग अस्तित्व नहीं रखता, अतः निरहंकारता भी स्पष्ट है। ये ही सब तो भक्ति के लक्षण हैं ॥ ३२ ॥

नारदीयं भक्तिलक्षणं यत्स्वीयप्रियवस्तुन (श्लोक २८) इत्यादिना दर्शितं, व्याख्यातं च त्रुटिर्युगायेतेत्यादिना मा गा व्याकुलतामित्यन्तेन। अथ पाराशर्याद्युक्तं नारदीयलक्षणप्रसक्तानुप्रसक्ततया भक्तिस्वरूप "मन्ने यः क्षुधितस्ये" त्यादिना विद्वत्प्रतिपादनभङ्गीभेदेन निरूप्याधुना विवक्षितं पाराशर्याद्युक्तलक्षणं दर्शयति-पूजादाविति। शमस्यैकमयनं मार्गः शम एवैकमयनं प्राप्यं वा यस्य तथाविधं पूजादावनुरागमेव भक्तिलक्षणं चिन्हात्मकं भगवान् पाराशर्यः प्रावोचत्। तथा च सूत्रं-"पूजादावनुराग इति पाराशर्य" इति। कुत इदं लक्षणं ? तत्राह-सांनिध्य-

मित्यादि । संनिधापन—स्थापनादिकं पूजादौ प्रसिद्धम् । तथा च सांनिध्यं तत्र भासते भगवतः । दम्भादिमतां वास्तविकपूजानुपपत्तेः सेव्यसेवकभावावश्यंभावात् स्वस्य सेवकभावनायां सेव्यमीशं प्रत्यकिंचनत्वं च तत्र भात्येव "आवाहनं न जानामि न जानामि विसर्जनम् । पूजां चैव न जानामि क्षमस्व परमेश्वरे"त्यादि-प्रार्थनादर्शनान्निरहंकारश्च पूजादौ स्फुटः । भगवत्पूजाद्यनुरागश्च भगवदनुराग व्याप्यस्तत्राकिंचनत्वं निरहंकारत्वं च पूजाशब्देन द्योत्यतं । तदर्थमेव तस्मिन्ननु-रागमेव लक्षणमनुक्त्वा पूजाद्यनुरागपर्यन्तानुधावनं कृतम् । परे तु नामादिवदेव पूजनादिकमपि दिव्यप्राकृतभेदेन द्विविधम् । तत्र निरहंकारादियुक्तप्राकृतपूज-नानुरागस्य दिव्यपूजनाभिव्यञ्जकत्वाद्दिव्यस्य तस्य भगवत्प्रेमरूपत्वाल्लक्षण त्वोपपत्तिरिति संगमयन्ति ॥ ३२ ॥

क्षिप्त्वा भारकरीमहंकृतिमधो दूराद्विधूयाप्यधः-
क्षेपां स्वास्तिविमर्शिनीमधरगां वृत्तिं निवृत्तिं विना ।
आतन्वँल्लघिमानमुत्पतति स प्रेमास्पदैकास्पदः
पूजार्चाद्यनुरागपक्षवलितो मोक्षायनाच्चोपरि ॥३३॥

भगवान् के पास उड़कर जाने के लिए रुई से भी अधिक हलका होना आवश्यक है। अहंकार भार बढ़ाता है। अतः उसे दूर फेंकना होगा। फिर नीचे की ओर ढकेलने वाली अपने अस्तित्व की जो वृत्ति है, उसे भी निरस्त करना होगा अर्थात् अकिंचनता लानी होगी। इस प्रकार अतिलघु होकर प्रेमास्पद भगवान् को ही एकमात्र लक्ष्य बनाकर पूजा-अर्चनादि अनुरागरूपी पंखों के द्वारा (निवृत्ति विना) लौटे विना ही मोक्षमार्ग से भी ऊपर भक्त उड़ता जाता है (और अन्त में भगवान् को प्राप्त होता है) ॥ ३३ ॥

पाराशर्यमतमेव रूपकेण निरूपयति-क्षिप्त्वेति । स्वीयाकिंचनतेत्यत्र स्वपदोक्तो भक्तोऽत्र स इत्यनेन परामृश्यते । स उत्पततीत्यन्वयः । प्रेमास्पदमेवैकमास्पदं लक्ष्यं

यस्य स प्रेमास्पदैकास्पदः । पूजार्चादीति । पूजादिष्वित्यादिपदबलात्पादसेवनादि-षट्कलाभस्तत्र योऽनुरागः स एव पक्ष उड्डयनसाधनं तेन वलितः । दम्भवर्जितस्य पादसेवनादौ नाहंकारादिसंभावना । सख्येऽपि नास्त्यस्मिता । तदाह—अहं-कृतिं क्षिप्त्वेति । कीदृशीं ? पतननिदानं भारं करोतीति भारकरी ताम् । अभारकरीमिति च च्छेदः । डुभृञ् धारणपोषणयोः । अपुष्टिकारीमननुग्रहकारीमिति यावत् । उपरिक्षेपणे पुनः स्वशिरस्याऽऽपतेदत आह-अधः क्षिप्त्वेति । अत्यन्तानाद-रणीयतया सर्वथा विनाश्येत्यर्थः । दूरादिति । दूरमित्यर्थः । अधःक्षेपाम्=अधः-पातनकरीम् । स्वास्तिविमर्शिनीं=स्वीयास्तित्वविमर्शकारिणीम् । अस्तिपदं भावप्रधाननिर्देशादस्तित्वपरम् न च 'पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानधिकरणेने' ति षष्ठीसमासनिषेधः । कृदव्ययस्य तत्र ग्रहणात् । तदुपरीत्यादिप्रयोगदर्शनात् । अस्तु वा स्वपदमात्मीयार्थकं, तथा च कर्मधारयेण सिद्धिः । अधरगां=नीचैर्गा-मिनीम् । वृत्तिं=मनोवृत्तिम्, विधूय=विनाश्य । ततश्च लघिमानमकिंच-नतामातन्वन् । उत्पतनोपयोगिनीं लघिमाख्यसिद्धिं प्राप्नुवन्निति च गम्यते । मोक्षायनं—मोक्षेच्छा ततोऽप्युपरि, तदिच्छामपि परित्यज्येत्यर्थः । सः—भक्त उत्पतति सर्वोर्ध्वेन भक्तिमार्गेण । अत्र कश्चनोपग्रहो भारकरीं प्रथमावृतिमधः क्षिप्त्वा पृथिव्याकर्षणवृत्तिं च क्षिप्त्वा गुरुत्वाकर्षणविरहाल्लघिमानमातन्वन्नुपर्युत्पततीति दृष्टान्तोऽपि गम्यते । पुनरावृत्तिराहित्यार्थलाभायाह-निवृत्तिं विनेति । अपि च स्वसत्त्वमादाय प्रवृत्तिनिवृत्ती भवतः । अधरगत्वात्तदुभयं विनेत्यप्यर्थः । "तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम् । प्रवृत्तिं च निवृत्तिं चे"त्यादिवचनात् । न च पूजादिप्रवृत्तिः शङ्क्या । रागानुगतत्वात् । अतएव पूजाद्यनुराग एव पाराशर्यमतं न तु पूजादिप्रवृत्तिः ॥ ३३ ॥

गर्गो लक्ष्म कथादिके भगवतः प्राहानुरागं मुनिः
शृण्वन् यत्कथयन् स्मरन् रतिमुपैत्यैकान्तिकीं यज्जनः ।
तत्राप्यात्मरतेर्विरोधरहितं भक्तेः परं लक्षणं
शाण्डिल्यो निजगाद जीवपरयोर्भेदासहिष्णुर्मुनिः ॥३४॥

गर्गाचार्य मानते हैं कि भगवान् की कथा आदि में अनुराग भक्ति का लक्षण है। कथा आदि के श्रवण, कीर्त्तन एवं स्मरण से भक्तजन ऐकान्तिक रति को प्राप्त होते हैं। शाण्डिल्य मुनि उसमें विशेषण जोड़ते हैं— आत्मरति के साथ विरोध न हो ऐसा कथादि-अनुराग भक्ति का लक्षण है। इसका कारण यह है कि शाण्डिल्य जीवात्मा और परमात्मा में भेद स्वीकार नहीं करते। आत्मरति होते ही परमात्मारति हो सकती है ॥ ३४ ॥

"कथादिष्विति गर्गः" "आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः" इति सूत्रद्वयोक्ते लक्ष्मणी विवृणोति–गर्ग इति। कथादावनुरागं भक्तिलक्षणमिति गर्गो मुनिः प्राह। कथादिश्रवणकीर्त्तनस्मरणानुरागमिति यावत्। कुतः प्राह ? शृण्वन्निति। यद्= यस्माद्, जनः=भगवज्जनः यत्=कथादिकं शृण्वन् कथयन् स्मरंश्चैकान्तिकीं रतिमुपैति। न हि वैरिजनविजयकथाश्रवणादौ कस्यचिद्रतिर्भवति। किन्तु प्रियजन-विजयकथादावेव। तत्राप्यैकान्तिकी रतिः परमप्रेमास्पदकथादावेव संभवतीति तस्य लक्षणत्वं युक्तम्। किं च नामधामादेर्नित्यत्वं भगवद्रूपत्वं चान्यत्र व्यवस्थापितमित्यै-कान्तिकरतिप्रयोजकतदनुरागस्य भक्तित्वं निश्चितमेव। दिव्यनित्यनामाद्यभि-व्यञ्जनोपयोगिप्राक्तनामाद्यनुरागोऽपि तत्प्रयोजकतया चिह्नात्मकलक्षणमेव। शाण्डिल्यमते विशेषं दर्शतति-तत्रापीति। कथाद्यनुरागेऽपीत्यर्थः। आत्मरतेरित्यादि। अयं भावः- विषयरतिरात्मानन्दावरणे सत्येव भवति। आत्मानन्दरतौ सत्यां "विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैरिति" तिन्यायेन विषयरत्यसंभवात्। कथादिषु च रतिरात्मानन्दाऽनावरणकालीना तदैव भवति यदा कथाद्यभिव्यङ्ग्यं तत्त्वमात्मानतिरिक्तं स्यात्। तदिदमाह जीवपरयोर्भेदासहिष्णुरिति। तथा च शाण्डिल्यसूत्रं—"तदैक्यं नानात्वैकत्वमुपाधियोगहानादादित्यवद्" इति। तदैक्यं=जीवपरयोरैक्यम्। तन्नानात्वमुपाधियोगात्, तदेकत्वनुपाधिहानात्। जलाद्युपाधियोगहानान्नानात्वैकत्वे यथाऽऽदित्यस्य तथेति। तथा च श्रुतिः। "यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन् उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मे" ति। ननु पाराशर्यमतेऽप्यभेद एव

जीवपरयोरिति चेत्। सत्यम्। तत्र पूजादिष्वनुराग इति पृथगेव। कथादिषु गर्गशाण्डिल्ययोर्वैशेष्यमुच्यत इति न किंचिदनुपपन्नम्॥ ३४॥

प्रेमाम्बरे निरवधिन्यखिलोपरिस्थो
गारुत्मतीमिव गतिं कलयन् स्वभावात्।
ऐकान्तिकश्रवणकीर्त्तनचिन्तनस्थः
स्वात्मानमेव रमयन् प्रणयी प्रयाति॥३५॥

प्राप्तव्य स्वर्ग मोक्षादि से भी ऊपर उठकर प्रेमी भक्त असीम प्रेमाकाश में स्वाभाविक, गरुड की सी (पक्षचालनादियत्न रहित) गति पाकर श्रवण-कीर्त्तन-स्मरण में अव्यभिचरित आस्था के साथ आत्मानन्दानुभूति करता हुआ उड़ता जाता है॥ ३५॥

गर्गशाण्डिल्योरेवाभिप्रायमभिव्यञ्जयन् पाराशर्यमताऽप्रातिकूल्येन प्रेमलक्षणं प्रकारान्तरेणोपपादयति-प्रेमाम्बर इति। उत्पततीति प्रागुक्तम्। उत्पतन् स प्रेमाम्बरं प्रतिपन्नस्तस्मिन्निरवधिनि अनन्ते प्राप्तव्यतया प्रसिद्धस्वर्गमोक्षाद्यखिलोपरिस्थः, आत्मारामत्वादेव, गारुत्मतीमिव गतिं-गरुडचिल्लादयो यथा पक्षचालनादिक्रियां विनैवोड्डयन्ते तथा कर्मप्रयत्नमन्तरैव स्वाभाविकीं लक्ष्यप्राप्तिप्रयोजिकां गतिं कलयन्नव्यभिचरितश्रवणाद्यनुरागस्थस्तेन स्वात्मानमेव रमयन्नव्यभिचरितत-दानन्दतृप्तो भगवत्प्रणयी प्रयाति भगवत्प्राप्तिलक्षणलक्ष्याभिमुखो गच्छति। सकलब्रह्माण्डोपरिगगनं गतो निरवरोधो मूलं प्राप्नोतीति च गम्यते॥ ३५॥

यद्वैधश्रवणादियानवलितो यातोऽतिलोकोत्तरं
प्रेमव्योम पुनस्तदास्पदपदेनाकृष्णमाणः स्वयम्।
तस्मिन्नेव सुखं स्थितोऽनुपरते रागानुगाख्यां गते
श्रीकृष्णाह्वयमव्ययम् प्रतिसरत्यानन्दकन्दं पदम्॥३६॥

प्रथम वैधी भक्ति रूप से स्थित श्रवणकीर्त्तनादिरूप जिस विमान में बैठकर अतिलोकोत्तर प्रेमाकाश में पहुँचा उस प्रेम के आस्पद हरिपद से

आकृष्ट होकर उसी अनुपरत श्रवणादिभक्ति रूपी यान में जो कि अब रागानुगा भक्ति बन चुकी है, स्वयं आनन्दकन्द अव्यय श्रीकृष्णपद की ओर भक्त आगे बढ़ता जाता है (और उसे प्राप्त होता है) ॥ ३६ ॥

"कथादिष्विति गर्गः" इत्यनेन श्रवणकीर्त्तनस्मरणान्युक्तानि। "पूजादिष्वनुराग" इत्यनेन पादसेवनादिषट्कमभिहितम् । तदेतन्नवकं द्विविधम् । पूर्वरूपमुत्तररूपं च। विशुद्धप्रेमोद्भवात् प्राक् सा वैधी भक्तिरभिधीयते। तदुद्भवोत्तरं रागानुगा भक्तिरुच्यते। एतत्स्फोरयंस्तत्र क्रमं तत्फलं च प्रतिपादयति—यद्वेति। "तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवानीश्वरो हरिः। श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताऽभयम्" "तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्त्वतां पतिः। श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदे"त्यादिविधिशास्त्रविषयीभूतं यच्छ्रवणादि तदेव यानं तद्बलितस्तदाश्रितः अतिलोकोत्तरं प्रेमव्योम = प्रेमाकाशं यातः, पुनस्तदास्पदेन प्रेमास्पदेन पदेन भगवदाख्येनाकृष्यमाण इति श्रीकृष्णत्वादेव। ततश्चानुपरते निरन्तरप्रवृत्ते तस्मिन्नेव-श्रवणादिके प्रेमोद्भवोत्तरं रागानुगाख्यां गते सुखं स्थित इति यानाऽपरित्यागे हेतुः। स स्वयमेव श्रीकृष्णाह्वयमव्ययमानन्दकन्दं पदं प्रतिसरति। अत्रेयं दृष्टान्तव्यक्तिः, कश्चिदतिदृढं व्योमयानमास्थितस्तैलविद्युदादिसहकारेणोपरि गच्छन् पृथिवीपरिधिमतिक्रम्य ततो ब्रह्माण्डपरिधिमप्यतिक्रम्यातिलोकोत्तरं सर्वलोकोर्ध्वमुपगतो यदा भवति तदा सर्वलोकमूलभूतपरमतत्त्वेन स स्वयमेवाकृष्यमाणो भवति। ततश्च यानोपयोगविरहेऽपि सुखस्थितिसत्त्वेन तत्रैव याने स्थितस्तत्परमतत्त्वेनाकृष्यमाण एव तत्परं तत्त्वमाप्नोति। न तत्र तैलविद्युदाद्यावश्यकत्वमिति। अत्र गर्गसंहितादिवर्णितानुसारेणानन्तकोटिब्रह्माण्डानि ब्रह्मवारिसमुद्रेऽपारे संतरन्ति, सर्वमूलस्थानं श्रीकृष्णधाम सर्वलोकातीतमिति विज्ञायते। "यथाग्नेर्विस्फुलिङ्गा" इत्यादि श्रुतिविचारणायां चाग्नेर्व्युच्चरितस्फुलिङ्गसमानाः परमात्मव्युच्चरिताः सर्वे लोकाः सृष्टिकाले। परमात्मनाऽऽकृष्यमाणाश्च प्रलयकाले, उपसंहारश्रुतेः। ततः परमात्मानमेवापियन्तीति। विस्तरः कादम्बिन्याम् ॥ ३६ ॥

तृतीयं प्रकरणम्

भगवतश्चरितान्यधरीकृता-
ऽमृतरसानि यशांसि गुणानपि ।
अनघनाम च रूपमृतं च रे
शृणुत कीर्त्तयत स्मरतापि च ॥३७॥

(नवधा भक्ति में श्रवण-कीर्तन-स्मरण वर्णन । चरित्र, यश, गुण, नाम और रूप इन पाँचों के श्रवणादि होते हैं। अतएव श्रवणादि पंचधा हैं।) हे साधकजनों ! अमृतरस को भी नीचा करने वाले भगवान के चरित्रोंको यशको, गुणों को, पापहारी नामों को और परमार्थरूप को सुनो, गाओ और याद करो ॥३७॥

"कथादिष्विति गर्ग" इत्यत्र श्रवणकीर्त्तनस्मरणानि, "पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्य" इत्यत्र पादसेवनादीनि षडिति प्राङ्निरूपितम् । उभयमेलनेन नवधाभक्ति-पर्यवसानम् । तदुभयं सूत्रे पृथङ् निर्दिष्टमित्यतोऽत्रापि द्वादशकद्वयेन निरूप्यते । प्रथमद्वादशकेन श्रवणादित्रयम् । द्वितीयद्वादशकेन पादसेवनादिषट्कमिति । तत्र पूर्वश्लोके वैधी रागानुगा चेति द्विधा श्रवणादिभक्तिर्दर्शिता । तत्र प्रथममिह वैधीभक्तिर्निरूप्यते । शृणुत कीर्त्तयतेत्यादिलिङ्गात् । ततः परं प्रेम्णः पूर्वरूपात्मकस्य भावस्य निरूपणं भविष्यति । "भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यत" इति ह्यभियुक्ताः । अन्ते च क्रमिकप्रकर्षेण भावं व्युत्पाद्य तदीयसान्द्ररूपं प्रेमापि निरूपयिष्यते । प्रेमोद्भवानन्तरं वैधी श्रवणादिभक्तिरेव रागानुगा संपत्स्यते । तदुक्तं प्राक्—"तस्मिन्नेव सुखं स्थितोऽनुपरते रागानुगाख्यां गते" इति । तस्मिन् वैधश्रवणादावेवानुपरते एव प्रेमोत्तरं रागानुगाख्यां प्राप्ते इत्यर्थः । अनुपरत इत्यनेन भेदः प्रतिक्षिप्यते । इत्थं च रागानुगारूपाणां पृथङ् निरूपणं नावश्यकमिन तानि न निरूपयिष्यन्ते । तत्र प्रथमं श्रवणादित्रयनिरूपणं सामान्यतः क्रियते । ततो विशेषेण । श्रवणादि पञ्चधा विषयभेदात् । चरित्रस्य, यशसः, गुणानां, नाम्नां, रूपस्य च । तदाह भगवत इति । अधरीकृतं स्वर्गीयममृतं

सालोक्याद्यमृतं च यैस्तानि चरितानि तथाविधान्येव यशांसि तथाविधानेव सुणादीनपि। लिङ्गसंख्याव्यत्ययेन यथायथमन्वयः। चरितयशसोर्यद्यपि नात्यन्त भेदस्तथापि चरितमाचरणं यश उत्तमकर्मप्रयुक्तमहीयस्त्वमिति कथंचिद् भेदः कर्तव्यः। एवं गुणेष्वपि। सौन्दर्यमाधुर्यसौशील्यादिर्गुणः। श्रीकृष्णगोविन्देत्यादिकं नाम। तत्र पापहरत्वं विशेषत इत्यतोऽनघेति विशेषणम्। रूपमृतं दिव्यं कुटिलकुन्तलपुण्डरीकनयनप्रभृतिकम्। चरितादिकमप्यमृतमवेति वार्त्तिके विस्तरः। प्रेमप्राप्तिर्वैघश्रवणादेः प्रागुक्तं फलम् ॥ ३७ ॥

उपगतात् कृपयोत यदृच्छया
श्रुतिविदः परमात्मविदो गुरोः।
चिनुत भागवतान् सगुणान् मनून्
जयत काममुखानखिलान् खलान् ॥३८॥

कृपा से या यदृच्छा से आये हुए, शब्दब्रह्म तथा परब्रह्म में निष्णात सद्गुरु से भगवान् के गुण एवं भागवत मन्त्रों को ग्रहण करो। एवं स्वान्तःस्थ समस्त कामादि खलों पर विजय पाओ ॥३८॥

गुरुदीक्षापि श्रवणादिभक्त्यङ्गभूतेति सूचयन् प्रथमं श्रवणादिकमुपक्रम्य विशेषविवरणात् प्रागेव पठति-उपगतादिति। तन्त्रेण कर्मणि कर्त्तरि च क्तप्रयोगः। साधकैरुपगतात्स्वयमुपगताद्वेत्यर्थः। तथा हि गुरुप्राप्तिर्द्विधा। तत्समीपं स्वगमनेन स्वसमीपं तदागमनेन च। "तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय आत्मनः" "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेदि" त्यादिवचनोक्तमाद्यम्। द्वितीयमपि द्वेधा। कृपया यदृच्छया च। "छायेव कर्मसचिवाः साधवो दीनवत्सला" इत्यत्र दीन-वात्सल्यं दयेति प्रथमोदाहरणम्। विदेहराजसविधं योगीश्वरागमनमिति यदृच्छये-त्यस्योदाहरणम्। गुरवस्तु त्रेधा। केचिज्ज्ञानिनः, के चिद् भक्ताः, केचिदुभयात्मकाः। तत्र ज्ञानिन इति श्रोत्रिया वेदाध्ययनजनितपरोक्षज्ञानवन्तो विवक्षिताः। भक्ता इति भक्तिभरजनितापरोक्षज्ञानवन्तः। तत्रोभयात्मकानां श्रेष्ठत्वेऽपि तदलाभे तदन्य-तरोपगमनमुचितमित्याशयेन चकारमपठित्वैव ज्ञानिनो भक्तांश्च गुरून्निरूपयति

श्रुतिविदः परमात्मविद इति। श्रीमद्भागवते तु "तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रय उत्तमम्। शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्" इत्युभयात्मकस्यैव प्रपदनीयतया निर्देशः कृतः। तादृशगुरूपसदनादेव चतुर्थपादोक्ता कार्यसिद्धिरिहापि बोध्या। गुरोर्विशेण किं ग्राह्यमिति जिज्ञासायामाह—चिनुतेति। "तत्र भागवतान्धर्मान्छिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः। अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्माल्मदो हरिरि" त्युक्तेरत्र गुणपदेन भागवतधर्मा विवक्षिताः। 'लब्धानुग्रह आचार्यात्तेन संदर्शितागमः' इत्यनेन लब्धार्थमाह—मनूनिति। भागवतधर्मश्च "सर्वतो मनसोऽसङ्गमि" त्यादिना तत्रैव प्रतिपादिताः। "अमाययानवृत्त्यैवे" ति किमर्थमुक्तमित्यतस्त-त्तात्पर्यमाह—जयतेति। "असंकल्पाज्जयेत्कामं क्रोधं कामविवर्जनादि" त्युपक्रम्य "सर्वं चैतद् गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेदि" ति सप्तमे कथितत्वात् गुरुसेवयैव कामादिरूपान् खलान् शत्रूञ्जयतेत्यर्थः। जयतेत्यनेन कामादीनां शत्रुत्वव्यञ्ज-नाद्। "विद्धचेनमिह वैरिणमि" ति भगवदुक्तेश्च ॥ ३८ ॥

सगुणमीश्वरमाश्रयमस्य चो-
पकरणं च मनुं च निजं तथा।
अगुणमस्य परं महिमानम-
प्युपलभध्वमतः परमाद् गुरोः ॥३९॥

उन परम गुरु से सगुण ईश्वर—विष्णु आदि, आश्रय-वैकुण्ठादि, उपकरण—कल्पवृक्षादि, मन्त्र—अष्टाक्षरादि, तथा निजतत्त्व-जीवस्वरूप इन पांचों को एवं निर्गुण परमात्मा को और उसकी महिमा को तत्वतः समझो ॥ ३९ ॥

परमाद्-उत्तमात्-शाब्दपरनिष्णाताद् गुरोरिमे सप्त ग्राह्याः। के? तदाह-सगुणमिति। आश्रयो वैकुण्ठादिः। उपकरणं कल्पवृक्षादि शंखचक्रादि च। अगुणमिति। अन्यथा निर्विल्पकसमाध्यनुपपत्तेः। अस्य परं महिमानमिति। विष्णुरुद्रादौ तदीयमहिमप्रथेत्यजानतां शिवविष्वादौ श्रेष्ठत्वस्थापनाभिनिवेश-

जनितभेदभावनानिबन्धनमहामोहान्धकारनिपतनप्रसङ्गात् । तथा च दूरे भक्तिकथां निरस्य पारस्परिकमात्सर्यविद्वेषनिबन्धनविडम्बनामात्रं भक्तंमन्यानां स्याद् । अधिकमन्यत्र ॥ ३९ ॥

नयत सुश्रवसः श्रवसः सृतिं
बुधजनोच्चरितं चरितं हरेः
विदुरितो दुरितोन्मथनः सतां
सुहृदयम् हृदयम् भगवानिति ॥४०॥

मंगलकीर्ति भगवान् हरि का बुधजनों के द्वारा उच्चरित चरित्र को श्रोत्रमार्ग से अन्दर धारण करो। सत्पुरुषों के सुहृत्–सखा ये भगवान् हृदय में प्रविष्ट होने पर सर्वदुरितनाशक है ऐसा विद्वज्जनमानते, हैं ॥४०॥

सामान्यतः प्रागुपदिष्टानि श्रवणादीनि विशेषेणाह-नयतेति । सुश्रवसः= सुभद्रश्रवसो हरेर्बुधजनोच्चरितं चरितंश्रवसः श्रोत्रस्य सृतिं मार्गं नयत, श्रोत्रमार्गेण हृदयं प्रापयत । सम्यक् शृणुतेत्यर्थः । किमर्थं ? तत्राह-विदुरिति । सतां सुहृत् = सत्पुरुषाणां सखा अयं भगवान् हृदयम् इतः = प्राप्तः दुरितोन्मथनः पापोन्मथन इति विदुर्विद्वांसः । विदुः इतः, सुहृत् अयम् इति पदच्छेदो ॥ ४० ॥

व्रजपतेर्जपतेतरनामतो
व्युपरताः परतापहरं मनुम् ।
अनपराधपरा धवलं यशः
परमुदारमुदाहरत प्रभोः ॥४१॥

कीर्त्तनः—नामापराधों से बचते हुए तथा इतरनामों से उपरत होकर व्रजेश्वर भगवान श्रीकृष्ण के पापापहारी मन्त्र का जप करो। एवं भगवान् के अत्यन्त उदार चरित्र तथा निर्मल कीर्ति का कथा प्रसंग में प्रेम से कथन करो ॥४१॥

कीर्त्तनमाह—व्रजपतेरिति । व्रजमण्डलाधीश्वरस्य कार्यकरणसंघातेश्वरस्य वा प्रभोः परमेश्वरस्य हरेः, इतरनामतो व्युपरताः, नामेत्युपलक्षणम्, "नानुध्यायाद्

बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्" "अन्या वाचो विमुञ्चथ" इत्यादि श्रुतेरन्यवाङ्मात्रं परित्यज्येत्यर्थः। परतापहरं–परस्य महतस्तापस्य हरम्। परः तापो यस्मात्पापौघात्तद्धरं वा। अथवा परताम्=अन्यताम् अन्योऽसावन्योऽहमिति भावमपहरतीति परताऽपहरस्तं मनुं=मन्त्रम्। उपलक्षणमेतद् भगवत्संबन्धिवाङ्मात्रस्य। अनपराधपराः–नामापराधमकुर्वाणा जपत। धवलं परमुदारं यशश्चोदाहरत कथयत ॥ ४१ ॥

अनियतं नियतं निरतं रुचि–
व्युपरतं परतन्त्रमुतेतरत्।
निजमनोऽजमनोदितमेनसा–
ऽनुनयतो नयतोत बलात्स्मरन् ॥४२॥

स्मरण-चिन्तन-धारणा-ध्यान-समाधि-ध्रुवानुस्मृति तथा निर्वीजसमाधि ये स्मरण के सात भेद हैं। स्मरणः–जैसे तैसे मन को भगवान में लगाना स्मरण है। हे साधकों! मन चाहे संयमयुक्त हो चाहे संयरहित, भगवत्स्मरण में रुचि पूर्ण हो चाहे रूचिशून्य, परतन्त्र हो या स्वतन्त्र किसी भी रूप में वह हो उसे भगवान की ओर ले चलो। चाहे मनाकर चाहे वलपूर्वक। हाँ, पाप से प्रेरित न होना चाहिये। यही कल्याणकारी स्मरण हैं ॥४२॥

स्मृति-चिन्तन-धारणा-ध्यान-समाधि-ध्रुवानुस्मृति-निर्विकल्पकसमाधिभेदेन सप्तधास्मरणं क्रमेण व्याचष्टे–अनियतमिति। असंयतं संयतं वा स्मरणे रवियुतं रुचिरहितं वा, परतन्त्रम् इतरत्=स्वतन्त्रं वा निजमनोऽजं परमात्मानं नयत। अनुनयतो वा बलाद्वा। स्मरन्निति हेतौ शता ॥ ४२ ॥

प्रभवतो भवतोदनहारिणः
सुविमलाचरणाश्चरणाम्बुजम्।
सविधि चिन्तयतान्तयतः शुचं
हृदि नरा दिनरात्रमखेदतः ॥४३॥

चिन्तनः—भवदुःखहारी, शोकान्तकारी प्रभुके चरण कमलों का पवित्र आचरणवान् हो विधिपूर्वक, ऊबे विना दिन रात चिन्तन करो ॥४३॥

यथाकथंचिदनियमितं नियमितं वा स्मरणं भवति। चिन्तनं तु सप्रयत्नं सविधिकं च। तदाह-प्रभवत इति। भवेन यत्तोदनं तद् हर्त्तुं शीलं यस्य स तथा तस्य, मानसीं शुचमन्तयतः प्रभवतः = प्रभोश्चरणाम्बुजं हृदि चिन्तयत। दिनरात्रमिति यथासंभवं सर्वकालम्। अत्र खेदाभावोऽपि विशेषः॥ ४३ ॥

प्रतिनिवर्त्य हृदीन्द्रियसन्ततिं
विषसमाद् विषयादखिलाद्बलात्।
धरत धारणया भगवत्तनूः
शुभवहा भवहानिमभीप्सवः ॥४४॥

धारणाः—इन्द्रियों को विषसम सकल विषयों से निवृत्तकर हृदयदेश में भगवान की शुभकारी नाना तनुओं (स्वरूपों) को धारणा से धारण करो, यदि दुःख संसार की निवृत्ति करना है ॥४४॥

धारणामाह—प्रतिनिवर्त्येति। इन्द्रियसन्ततिं प्रतिनिवर्त्य हृदि भगवत्तनूर्धरतेति सम्बन्धः। प्रत्याहारधारणयोरेकत्वं मत्वा लक्षणमिदम् "स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।" "देशबन्धश्चित्तस्य धारणे"ति पातञ्जले सूत्रे। तत्र व्याख्यातनाभिचक्रादिदेशानां भक्तावनुपयोगाद् हृदीत्युक्तं भ्रुकुटिसहस्रारयोरुपलक्षणतया ग्रहणम्। चित्तपरं वा हृत्पदम्। हृदीन्द्रियाणि प्रतिनिवर्त्त्येति वा सम्बन्धः। धारणाया यत्नपूर्वकत्वाद् बलादित्युक्तम् ॥४४॥

स्वभुवि कल्पविकल्पपरिप्लवं
स्वकमनः कमनत्विषि पूरुषे।
स्थिरतमं रतमञ्चयतांहसां
विशरणे शरणे शरणैषिणाम् ॥४५॥

ध्यानः–विधियों के विकल्पों से विप्रतिपन्न चञ्चल मन को पापनाशक शरणार्थियों के लिये शरणप्रद, स्वयंभू भगवान में पूर्ण स्थिर एवं रतियुक्त बनाओ ॥४५॥

ध्यानं व्याचष्टे,स्वभुवीति । कल्पानां विधीनां श्रौतस्मार्त्तादीनां विकल्पैः यजेत, त्यज धर्ममधर्मं च, ध्येयो विष्णुः, ध्येयः शिव इत्यादिरूपैः परिप्लवं चञ्चलं विप्रतिपन्नं "कल्पो विविक्रमावि"ति "चञ्चलं तरलं चैव पारिप्लवपरिप्लवे" इति चामरः । एवंविधं स्वकमनः=स्वीयं मनः कमनत्विषि = कमनीयतेजसि स्वभुवि = इतरानधीनसत्ताके स्वयंभुवि पूरुषे परमात्मनि रतं-रतियुक्तं स्थिरतममेकतान-मिति यावत्, अञ्चयत = प्रापयत । कुतः ? अत्र हेतुगर्मविशेषणद्वयम्-अंहसां विशरणे, शरणैषिणां शरणे इति । "हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत् सतामि"ति भागवते । अत्र "श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति" इति गीतोक्तसमाधिपूर्वावस्था च सूचिता भवति ॥४५॥

शुचिमनः सुमनःसुषमास्फुरत्
स्फटिकहारमणीरमणीयकम् ।
अजनरञ्जनरञ्जितमञ्जसा
कलयताऽलयतानमनाकुलम् ॥४६॥

समाधिः–जपा पुष्प की सुषमा से स्फुरित स्फटिक हार की मणियों के समान भगवान के रंग से तत्वतः रंजित कर अपने पवित्र मन को ऐसा रमणीय बनाओ कि जिसमें लय एवं विक्षेप सर्वथा न हो ॥४६॥

समाधिं व्याचष्टे—शुचीति । शुचि कामादिकालुष्यरहितं मनः सुमनसां जपादिपुष्पाणां सुषमया रक्तिमशोभया स्फुरन्त्यो याः स्फटिकहारमण्यस्तद्वद्रमणीयकं कलयत कुरुत । कथं ? तदाह—अजनेति । रज्यतेऽनेनेतिरञ्जनः । अजन एव रञ्जनस्तेन रञ्जितम् । अत्र वैलक्षण्यमाह—अञ्जसेति । तत्त्वत इत्यर्थः । मणीषु रक्तिम्नो भ्रान्तिमात्रम् । अत्र तु तत्त्वतो भगवद्रञ्जनमिति । स्फटिकमणीत्यनुक्त्वा

स्फटिकहारमणीति वदतोऽयमभिप्रायः—समाधौ वृत्तीनामेकाकाराणामनुवर्त्तनाद् हारमणिवदिति। "क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः"। "तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिरि"ति च सूत्रे। अलयतानं=लयतानरहितम्। अनाकुलम्=विक्षेपरहितम् "लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः" इति चाचार्याः ॥४६॥

भवनिरासनवासनया त्वृतं-
भरधियाऽऽहितया हितयात्मनः।
स्ववसुदे वसुदेवसुते ध्रुवां
स्मृतिमित स्तिमितस्थिरमानसाः ॥४७॥

ध्रुवा स्मृतिः- ऋतंभरा प्रज्ञा से आहित (उत्पादित) तथा संसार वासना को मिटाने वाली आत्महितकारी वासना से आत्मधनदायी भगवान में स्थिरचित्त होकर ध्रुवा स्मृति प्राप्त करो ॥४७॥

ध्रुवां स्मृतिं व्याचष्टे—भवेति। भवं संसारं निरस्यतीति भवनिरासना। भवस्याऽविषयीकरणमेवात्र निरासनम्। सा च सा वासना च ऋतंभरप्रज्ञया ऽऽहिता तया। 'ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा'। "तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी" इति पातञ्जल-स्मरणात्। भवसंस्कारनिरासने भवस्यापि निरासाद्वा भवनिरासनेत्युक्तम्। तत एव आत्मनो हितया आत्मकल्याणकारिण्येत्यर्थः। स्ववसुदे—स्वेषां स्वीयानां भक्तानां वसुदे। "वसुर्ना देवभेदाग्निभायोक्त्रबकराजसु। क्लीवं वृद्ध्यौषधे श्याले रैरत्ने मधुरे त्रिषु"इति मेदिनी। वृद्धिप्रकाशादिप्रदे इति यथासंभवम्। "चतुर्थी तदार्थार्थे"त्यादिपरिगणनात्षष्ठीसमासः। स्वीयेभ्यो वसु ददाने इति फलितार्थः। तथाविधे वसुदेवसुते ध्रुवां स्मृतिम् इत प्राप्नुत। इणो लोण्मध्यमबहुवचनम्। स्तिमितं-प्रेमार्द्रम्—"आर्द्रं सार्द्रं क्लिन्नं तिमितं स्तिमितमि"त्यमरः। स्थिरं च मानसं येषां ते। स्मृतिस्तिमितमपि तरलमपि विषयान्तरविरहात्स्थिरं मानसं येषामिति वा ॥४७॥

अधिसमाधि समाहितवासना-
मपि विहाय विहायससंनिभे ।
अनिलये निलयेन शिवेऽखिल-
व्युपरमं परमं पदमञ्चत ॥४८॥

निर्बीजसमाधिः-समाधि में आहित वासना को भी छोड़कर आकाश के समान व्यापक अविनाशी मंगलमूर्ति भगवान में लीन होकर सर्वप्रत्ययोपशम परमपद को प्राप्त हो ॥४८॥

निर्बीजसमाधिमाह—अधीति । समाधावित्यधिसमाधि । सविकल्पकनिर्विकल्पकोभयविधे । तत्र सविकल्पके तस्मिन्नाहितवासनामपि विहायेत्यन्वयः । निर्विकल्पकसमाधिपक्षे तु पूर्वश्लोकोपदर्शितामृतंभरप्रज्ञयाऽऽहितां वासनाम् अधिसमाधि निर्विकल्पकसमाधौ विहायेति योजना । वासनायाः परिच्छिन्नविषयकत्वाद्धिहेयत्वं बोध्यम् । इह तु विहायससंनिभे गगनोपमे मनो लीनमिति का वासना शिष्टाऽवतिष्ठताम् । "आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य" इत्यपरिच्छिन्नस्वरूपः सः । अनिलये—अनाधारे । "अनात्म्येऽनिलयन"इतिश्रुतेः । निलयेन स्थित्या विलयेन वा । अखिलव्युपरममिति । "तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिरि"ति पातञ्जलस्मरणात् । अतएव शिवे । "प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमि"ति श्रुतेः । परमं तुरीयं परमप्रेमलक्षणं वा पदं तदञ्चत । ततः पदं तत् परिमार्गितव्यमिति स्मृतेः ॥४८॥

इति चतुर्थं प्रकरणम्



कृतशिरोवनमा वनमालिनः
पदयुगं वरिवस्यत वस्यतः ।
अघमनन्तमनन्तरतो रता
हरिनिशान्तनिशान्तनिषेविणः ॥४९॥

पादसेवनादिः—भगवान के मंदिरादि की निरन्तर सेवा करते हुए तत्परता के साथ सप्रणाम पापहारी भगवान हरि के चरणों की पूजा करो ॥ ४९ ॥

"कथादिष्विति गर्ग" इत्यनेन विवक्षितं श्रवणादित्रयं निरूप्याऽधुना "पूजादिष्वनुराग" इत्यनेन सूचितं पादसेवनादिषट्कं निरूपयितुमारभते-कृतेति। तत्र श्रवण-कीर्त्तन-स्मरणलक्षणत्रिकवदेव पादसेवनार्चनवन्दनत्रिकमेकीकृत्य प्रथमं दर्शयति परस्परात्यन्तविशकलिततानिवृत्त्यर्थं—कृतेति । शिरोऽवनमा इत्यनेन वन्दनोक्तिः । वरिवस्यतेत्यनेनार्चनोक्तिः । पदयुगमिति हरिनिशान्तेति च पादसेवनोक्तिः । कृतः शिरोऽवनमः शिरोनमनं यैस्ते तथेति भक्तविशेषणम्। वनमालिनो भगवतः । कीदृशस्य ? अनन्तमघं पापं वस्यतः=अवस्यतः "षोऽन्तकर्मणि" । अवसानं कुर्वतः । भागुरिमतेनाल्लोपः । "एकोपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः" । अश्वमेधश्च ब्रह्महत्यादिपापहारी प्रसिद्धः। पदयुगमनन्तरतः—निरन्तरं रताः सन्तो वरिवस्यत । निशान्तं मन्दिरम्। 'निशान्त-वस्त्य-सदनं भवनागार-मन्दिरमि"त्यमरः । हरिमन्दिरं, हरिमन्दिरे वा निशान्तं=रात्रिपर्यन्तं रात्रिमभिव्याप्य वा निशान्तः प्रातःकालस्तं वा निषेविणः सेवनपराः। भगवतः पादयोः साक्षाल्लक्ष्मीप्रभृतिभिरेव सेवासंभवान्नवधाभक्त्यन्तर्गतसर्वसाधारणपादसेवने पादपदमादरार्थकमिति बहव आचार्याः। तथा च मन्दिरमार्जन-पूजापात्रधावनादिकं सर्वमपि पादसेवनमेव । केचित्तु अर्चाविग्रहपादसंवाहनमेव पादसेवनमिति वदन्ति । ननु पादसंवाहनस्य सुखविशेषोत्पत्तिकारणत्वेनाभिमतत्वात्तस्यार्चाविग्रहेऽसंभव इति चेन्न । नैवेद्यवदुपपत्तेः । न च नैवेद्यस्यार्चाविग्रहमुखे प्रक्षेपणविरहान्मन्त्रमात्रेण समर्पणाद्वैषम्यमिति वाच्यम् । चन्दनादिलेपदृष्टान्तसंभवात् । न च पूजाविध्यन्तर्गतत्वाच्चन्दनलेपादि क्रियते, न तु

शीतलतार्थमिति वाच्यम् । नानोपचारैः पूजयेदिति सामान्यविधिना पादसंवाहनादेरपि संग्रहीतुं शक्यत्वात् । परं त्वेवं सत्यर्चनान्तर्गतत्वापत्तिः स्यादिति तु चिन्त्यम् ॥ ४९ ॥

भुवनभावनभावनया सदा-
ऽऽवहत शं हतशङ्कमरेरपि ।
निजगदे जगदेव पदं हरे-
र्भुवि हितं विहितं पदसेवनम् ॥५०॥

पादसेवनः—भुवनभावन भगवान की भावना कर सबकी सेवा करो, भले शत्रु ही क्यों न हो, इसमें शंका मत करो। क्योंकि श्रुतियों में पूरे जगत को भगवान का पाद बताया है। अतः जगत में किसी का भी हित करो वह पादसेवन ही है ॥ ५० ॥

पादसेवनमन्यथा व्याचष्टे-भुवनेति । भुवनानि भावयति संकल्पमात्रेणोत्पादयतीति भुवनभावनः परमात्मा तस्य भावनां सर्वत्र कृत्वा हतशङ्कमसंशयमरेरपि शत्रोरपि । अपिना सर्वस्यैव । शं कल्याणमावहत-कुरुत । यतः जगदेव हरेः पदं निजगदे "पादोऽस्य विश्वाभूतानी" त्यादिभिः श्रुतिभिः । अतएव भुवि यदपि हितं विहितं तत् पदसेवनमेव हरेः । "अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम् । अर्हयेद् दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषे" तिकपिलवचनात् । पूजनं तु सविधिकमर्चादावेव । इदं पुनरर्हणं पादसेवनात्मकमिति द्रष्टव्यम् ॥ ५० ॥

बहिरथाङ्ग रथाङ्गभृतोऽन्तरा
हृदि समर्चनमर्चनविग्रहे ।
परिगृहीतगृहीतरदीक्षणा-
स्तनुत रेऽनुतरेत भवाम्बुधिम् ॥५१॥

अर्चनः-बाहर और अंदर (हृदय में) चक्रपाणि भगवान के अर्चाविग्रह (शिलादिमय या मनोमय मूर्ति) में किसी निर्मोही संत से दीक्षा पाकर अर्चना करो और भवसागर पार करो ॥ ५१ ॥

अर्चनमाह-बहिरिति । 'अङ्ग' इति 'रे' इति च सम्बोधनद्वयं विशेषतोऽस्य कर्तव्यतां द्योतयितुम् । वहिः=बाह्यस्थले देवमन्दिरादौ । अथ=किं च हृदि अन्तरा=हृन्मध्ये अर्चनविग्रहे—शिलादिमय्यां वा प्रतिमायाम् । तदुक्तं-"शैलो दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती । मनोमयी मणीमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृते" ति । सम्यगर्चनं तनुत । कथं ? परिगृहीतं विधिवत् साधनाद्युपदेशेन सह गृहीतं गृहीतरस्माद् दीक्षणं दीक्षा यैस्ते तथा । गृहीत्यनेन गृहासक्तोपलक्षणम् । तदितरः शाब्दे परे च निणातः । "श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठमि" ति श्रुतेः । "तीर्थाचारव्रतो मन्त्री ज्ञानवान् सुसमाहितः । नित्यनिष्ठो यतिः ख्यातो गुरुः स्याद्भौतिकोऽपि च" इति शक्तियामले । अनुतरेत भवाम्बुधिमिति फलम् ॥ ५१ ॥

सुमनसा मनसार्चत दुःखिता—
ननशनानशनादिभिरर्हत ।
कृपणतर्पणतः किल तेनिरे
मुनिजना निजनाथपदार्चनम् ॥५२॥

मनरूपी सुमन (पुष्प) से दुःख पीड़ितों की अर्चना करो (सहानुभूति से कष्ट दूर करो) भूखे दरिद्र की भोजनादि से पूजा करो । दीन-दुखियों की सेवा से ही मुनियों ने अपने नाथ हरि की पूजा की है ॥ ५२ ॥

अर्चनं प्रकारान्तरेणाह—सुमनसेति । मनोलक्षणेन सुमनसा पुष्पेण सद्भावनयेति यावत्, दुःखितान्मानसपीडावतोऽन्यांश्च दुःखवतोऽर्चत । यद्यपि "स्त्रियः सुमनसः पुष्पमि" त्यमरवचनाद् बहुवचनान्तः सुमनःशब्दः । तथापि "सुमनाः पुष्पमालत्योः स्त्री देवबुधयोः पुमानि" ति यादवोक्तेरेकवचनान्तोऽपि साधुरेव । किं च, अनशनान् दरिद्रानशनवस्त्रादिभिरर्हत । "अथ मां सर्वभूतेष्वि" त्यनुपदमुपदर्शितभागवतवचनात् । कृपणानां-दीनानां कृपायोग्यानां तर्पणतः संतोषणतो मुनिजना निजनाथपदार्चनं मेनिरे "येन केन प्रकारेण यस्य कस्यापि देहिनः । संतोषं जनयेद्राम तदेवेश्वरपूजनमि" त्युक्तेः, कृपणत्वोक्तिर्मुख्यत्वात् ॥ ५२ ॥

प्रणमताऽसमये समयेऽथवा-
प्यजनतज्जनतत्सदनस्थितान् ।
नियमतो यमतोदनभेदिनो
विगतमानतमा नतमानताः ॥५३॥

वन्दनः–भगवान् को, भगवज्जनों (भक्तों) को और भगवतसदन वृन्दावनादिवासियों को समय में असमय में कभी भी निरभिमान होकर नियम से प्राणम करो। ये यमराज के चाबुक को तोड़कर बचाने वाले हैं। सामने प्रणाम करने वालों को प्रतिप्रणाम करना मत भूलो ॥ ५३ ॥

यद्यप्यर्चनान्तर्गतं नमनवन्दनादिकम् । तथापि तदनन्तर्गतं पृथगुक्तिसामर्थ्यान्नवधाभक्ताविति द्योतयन् व्याचष्टे-प्रणमतेति । असमये समयेऽथवेति । समयविचारमकृत्वेत्यर्थः । पथि गच्छन् मन्दिराद्यवलोकनेऽवतीर्य प्रणमेत् । अन्यथा प्रत्यवायस्मरणात् । अजनो भगवान्, तज्जनाः भक्ताः, तत्सदनं मन्दिरादि वृन्दावनादि च । तत्र स्थितांस्तत आगतानपि विगतो मानो येषां तेष्वतिशयिताः । अकारान्ततमशब्दोऽप्यस्ति । तदा मानरूपान्धकाराऽपतिता इत्यर्थः । अत्र प्रमादो न कार्यं इत्याह-नियमत इति । इमे यमस्य तोदनं तोत्रं क्लेशो वा तं भिन्दन्ति। यमतोदनभेदिन इति फलगर्भविशेषणम् । नतमानता इति विशेषदर्शनम् । ये नमस्कुर्वाणास्तानवश्यमेव प्रणमेयुः । न तत्र स्वस्याधिकगौरवं मत्वा तिष्ठेयुः । प्रत्युताधिकं नम्रीभूय प्रणमेयुरित्याशयेन नतमानता इत्याङुपसर्गः ।। ५३ ॥

सखमरुत्समरुत्सखवारिभू-
मुखमुदारतनोरतनोर्हरेः ।
नमत संमतसंहननं श्रुते-
र्निहतमोहतमोहतका बुधाः ॥५४॥

हे बुद्धिमानों ! मोहान्धकाररूपी नीच शत्रु को मारकर उदारविग्रह व्यापक हरि के आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी आदि श्रुतिसंमत शरीर को नमस्कार करो ॥ ५४ ॥

प्रकारान्तरेण वन्दनमाचष्टे-सखेति। खेन सह वर्त्तमानो मरुत् सखमरुत्। आकाशवायू इत्यर्थः। मरुत्सखो वह्निस्तेन सह वर्त्तमाने वारिभुवौ। अग्निजल-पृथिव्य इत्यर्थः। तन्मुखं तत्प्रभृतिकं "खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषी" त्यत्रोक्तं सकलम्। अत्र सहार्थसमासद्वयं मूर्त्ताऽमूर्तविभागद्वयमपेक्ष्य। खमरुतावमूर्त्तौ। मरुत्सखवारिभुवो मुर्त्ताः। उदारा प्रशस्ता तनुर्यस्य स तस्य। अतनोरनल्पस्य व्यापकस्य भूम्नः। अतनुं तनुं त्वयेति माघे। शरीररहितस्येति वा। श्रुतेः संमतं संहननं शरीरम् "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चामूर्त्तं चे" ति श्रुतेः "यस्य पृथिवी शरीरमि" त्याद्यन्तर्यामिश्रुतेश्च संमतम्। नमतेति। यत्किं च भूतं प्रणमेदनन्य" इतिवचनात्। निहतो मोहतमोरूपो हतको यैस्ते। हतको नीचः। दुर्योधनहतक इत्यादिप्रयोगात्। खादिकं परमेश्वरशरीरं कथमित्येवंविधं मोहं तिरस्कृत्येति यावत्। "सर्वं खल्विदं ब्रह्मे" तिश्रुतेः। कथं मोहतमोविहनन-मित्यत आह-बुधाः। कृतविवेकाः शास्त्रलब्धबोधा वा ॥ ५४ ॥

अपि भवानि भवानिशसंचितं
विधमतोऽधमतोग्रमघं हरेः।
चरणकिंकरकिंकरभावभा–
गिति सदाऽस्य सदास्यधियास्यताम् ॥५५॥

दास्यः—संसार में निरन्तर संचित, अधमता से उग्र, पाप को जलाने वाले हरिचरणों के किंकर का भी किंकर बनूं ऐसी सदा भगवत्दास्य-भाव-भावना से युक्त होकर रहो ॥ ५५ ॥

दास्यमाह-अपीति। भवे संसारेऽनिशं संचितम्। अधमतया ऊतं स्यूतम् उग्र-मिति पाठो वा। अघं पापं विधमतः=दहतो हरेश्चरणकिंकरस्यापि किंकरभावं भजामीति तथाभूतोऽहं भवानि=स्यामित्येवं सदा सततमस्य हरेः सदास्यधिया दास्येन सह वर्त्तमाना धीस्तयाऽऽस्यतां स्थीयताम्। दासानुदासोऽस्म्यहमितिवदतिन-म्रत्वाय किंकरकिंकरेत्युक्तम् ॥ ५५ ॥

विमदशोकमलाः कमलापतेः
स्वसमवेतमवेत जगत्तनुम् ।
जनसमानसमानभृतिस्ततो
विभवदाऽभवदा भवदासता ॥५६॥

मदशोकादि हृदयमालिन्य त्यागकर इस बात को समझो कि यह जगत भगवान में समवेत (नित्यस्थित) है और भगवान का शरीर है। अतः मान देते हुए समानता से जनसेवा करना भुक्ति मुक्तिदायी हरिदास्य है ॥ ५६ ॥

दास्यमन्यथा व्याचष्टे-विमदेति । मदशोकौ मलरूपौ विगतौ येभ्यस्ते विमद-शोकमलाः सन्तः कमलापतेः स्वस्मिन् समवेतं जगत् तनुं शरीरमवेत=जानीयात। ततस्तस्मादेव कारणाद् भगवत्तनुत्वादेव जनानां प्राणिनां स-माना मानेनादरेण सहेति समाना या समाना=अविषमा भृतिः सेवा। "भारणं वेतने भृतौ" इति विश्वप्रकाशे वेतनात्पृथगुक्ता भृतिर्भृत्यत्वलक्षणा सेवैव । विभवदा=भुक्तिदा । अभवदा=मुक्तिदा । भवदासता अभवदासता वा । व्याख्या प्राग्वत् ॥ ५६ ॥

यजत देवमदेवमतिं द्यता-
प्यपशुचः पशुचक्षुरुपावहाम् ।
अनितरां नितरां धरतां धियं
सुहृदयोहृदयोऽपि स भेदिनाम् ॥५७॥

सख्यः-शोक रहित होकर भगवत्पूजन करो। देवता उन पर पशु-दृष्टि करते हैं जो मैं देव से भिन्न हूँ ऐसी मति रखते हैं, अतः उस मति को त्यागो। भेद दर्शियों के प्रति अयोहृदय (लोहे के समान कठोर हृदय) भी भगवान् अनितरभाव (अनन्यभाव) वाली गति जो रखते हैं उनके सुहृत (मित्र) हैं ॥ ५७ ॥

सख्यं निरूपयति-यजतेति । देवं हरिं यजत पूजयत । किन्तु अदेवमतिं खत खण्डयत निरस्यत । कुतः ? तदाह-पशुचक्षुरुपावहाम् "अन्योऽसावन्योऽहमिति स पशुरेव देवानामि" तिश्रुतेः पशुदृष्टिकारिणीं सा । तथा चाह—"देवो भूत्वा देवं यजेदि" ति । अपशुचः अपगता शुग् येभ्यस्ते । विनाऽपशुघ्नादित्यत्रैवं स्वामिटीका । एतेन फलमपि सूचितम् । "तरति शोकमात्मविदि" तिश्रुतेः । सुहृत्त्वसमर्थकं विशषणं वा । अनितरां-न विद्यते इतरो विषयतया यस्यां सा तथा तां धियं नितरां दधतां सुहृत् स देवः । भेदिनां-भेदधियां तान् प्रतीत्यर्थः अयोहृदयोऽपि अयोवत् कठोरहृदयो दण्डदाताप्यभेदधियां सुहृदेव स इति योजना ॥ ५७ ॥

वरजनैरजनैकपरायणै-

रवमताऽवमतादृशमुज्झत ।

कृणुत रेऽणुतरेऽपि हिताशिषो

हरिजनेऽरिजनेऽपि च सख्यतः ॥५८॥

यह नीच है ऐसी अधमता दृष्टि को त्यागो जिसे महापुरुषोंने दूर हटाया है । सख्य भाव रखते हुए सबके हित की आशा करो, भले कोई तुच्छ हो, कोई भक्त हो, कोई शत्रु हो ॥ ५८ ॥

सर्वत्र समभावेन हिताशंसनं सख्यमित्याशयेनान्यथा सख्यं व्याचष्टे-वरेति । वरजनैरुत्तमजनैरवमता=अनादृता । ताम् । अवमन्यतेः क्तः । अवमतादृशं तुच्छतादृष्टिम् । अवमस्याधमस्य भावोऽवमता तलन्तम् । परं प्रति नीचदृष्टिं त्यजतेत्यर्थः । किं च अणुतरे-तुच्छतरे, हरिजने=भक्ते महात्मनि अरिजने=शत्रौ च सख्यतः=समानख्यानतः हिताशिषः=हिताशंसनानि कृणुत=कुरुतेत्यर्थः । "हिंसाकरणयोः कृण्वेः कृणोति प्रापणेऽपि च" त्याख्यातकोशकाराः ॥ ५८ ॥

भगभृतेऽगभृते विनिवेद्य स-

प्रणयमेव पुरा वपुरादिकम् ।

उपरताऽपरताधिषणा बुधै-

रधिनुता धिनुताच्युतसत्तनूः ॥५९॥

आत्मनिवेदनः—गिरिवरधारी भगवान श्रीकृष्ण को प्रथम ही अपने शरीर धनादि सर्वस्व निवेदन कर भेदभावनारहित हो बुधजनपूजित मनुष्य पशु आदि भगवत शरीरों को प्रसन्न करो ॥ ५९ ॥

आत्मनिवेदनमाह-भगेति । "ऐश्वर्यस्य समग्रस्ये" त्यादिस्मृतिप्रोक्तषड्विध-भगधारिणे भगवते, अगं गोवर्धनमुत्थाप्य बिभर्तीति तथा तस्मा अगभृते निवासत्वेन धारयतीति गिरिशयाय वा श्रीकृष्णाय । उपरता अपरताधीर्भेदबुद्धिर्येषां तथा-विधाः सन्तो बुधैरधिकृत्य स्तुता अच्युततनूर्धिनुत प्रीणयत ॥ ५९ ॥

सनुतरङ्ग तरङ्गतनोर्विधौ
चिदुदधौ मम सत्त्वमसत्त्वयि ।
इति मतिं तनुताऽतनुतापसं-
प्रलयमालयमात्मनिवेदनम् ॥६०॥

समुद्र के अन्दर उठी हुई तरंग के सदृश चैतन्य सागर के अन्दर मैं हूँ । भगवान चैतन्य सागर स्वरूप हैं । उस भगवान में मेरा पृथक कोई अस्तित्व नहीं है । इस प्रकार की मति महान ताप को विलीन करने वाली है । लयपर्यन्त—सुषुप्ति और मरणपर्यन्त ऐसी मति बनाये रखो, यही आत्मनिवेदन है ॥ ६० ॥

आत्मनिवेदनमन्यथा विवृणोति-सनुतरिति । सनुतरित्यव्ययमन्तर्धाने । खार-समुद्रादौ बहिर्भवन्ति तरङ्गाः । व्यापके परमात्मनि बहिरसंभवात् सनुतरन्तर्हितानि अङ्गानि यस्य तादृशतरङ्गवत्तनुः स्वरूपं यस्य सोऽहं तस्य मम चिदुदधौ चैतन्य-सागरस्वरूपे त्वयि विधौ विष्णौ "विधुः श्रीवत्सलाञ्छन" इत्यमरः । सत्त्वमसदविद्य-मानमेव । मम पृथगस्तित्वं नास्तीत्यर्थः । स्वस्य पृथगस्तित्वाभावमतिरेवात्म-निवेदनं तदाह-इतीति । अतनोरनल्पस्य तापविलयनमिदमात्मनिवेदनमालयं सुषुप्तिपर्यन्तं मरणपर्यन्तं च तनुत ॥ ६० ॥

इति पञ्चमं प्रकरणम्

अनपेक्ष्य फलान्तरं प्रहृष्यत्
सहसाऽऽप्यायति फुल्लदब्जतुल्यम् ।
हृदयं प्रियसंस्मृतेः स्वभावाद्
यत एवामुमुदाहरन्ति भावम् ॥६१॥

भावः—प्रिय का स्मरण हुआ। किसी फल की अपेक्षा नहीं, फिर भी स्वाभाविक रूप से हर्षित होकर खिलते हुए कमल के समान खिल गया फैल सा गया। क्यों ? बस, यही तो भाव है ॥ ६१ ॥

नवधा भक्तिर्व्याख्याता। तत्र दास्य-सख्य-प्रसङ्गेन भावम्, आत्मनिवेदन-प्रसङ्गेन शरणागतिं च प्रकरणद्वयेन दर्शयन्नाह-अनपेक्ष्येति। एतावानत्र विशेषः। साधनात्मिकायां नवधा भक्तौ दास्यादिकं संपाद्यम्। संपन्नं च तद्भावरूपं भवति। रागानुगायां तु दास्यादिकं सान्द्रं, भावात्मतायामसान्द्रमिति तत्रापि विशेषो द्रष्टव्यः। अनपेक्ष्य फलान्तरमिति फलान्तरपर्यन्तगमनं स्वयंफलरूपताद्योतनार्थम्। श्रेष्ठिनं स्मृत्वा प्रहृष्यति याचको धनप्रदानफलमपेक्ष्य। प्रियसंस्मृतौ यो हर्षः स केवल-संस्मृतिभवो न तु फललोभजातः। सूर्योदयपूर्वक्षणफुल्लदब्जतुल्यं स्मरण-कालीनं हृदयम्। अत्र यो हेतुः स भाव इति। अधिकं कादम्बिन्याम् ॥ ६१ ॥

मम सोऽस्त्यहमस्मि तस्य सोऽहं
त्रितयं भावमिति ब्रुवन्ति सन्तः ।
अतिशीतलताऽऽदिमे द्वितीये
त्वतिदाहश्चरमे च सामरस्यम् ॥६२॥

भाव तीन प्रकार का होता है। मेरा ही वह है ऐसा एक है। उस का ही मैं हूँ यह दूसरा है। वही मैं हूँ यह तृतीय है। इनमें प्रथम में परम शीतलना रहती है। द्वितीय में परम दाह रहता है। तृतीय में समरसता रहती है ॥ ६२ ॥

भावत्रैविध्यमाह—ममेति । सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायाद् ममैव सः, तस्यैवाहं, स एवाहमिति लभ्यते । यद्याप्येतदन्यैराचार्यैः शरणागतिभेदतया व्याख्यातम् । तथापि स्वीयपरकीययोः पूर्वं व्याख्यातत्वात् तदानुकूल्याद् भावत्वेनैवात्रैतत्त्रितयं स्वीकृतम् । किं च "शरणं गृहरक्षित्रोरि" त्यर्थनिर्देशादाश्रयत्वेन रक्षितृत्वेन च वरणस्य शरणागतित्वमेव । न च "मामेकं शरणं व्रजे" त्यत्र भाष्यकृद्भिः "न मत्तोऽन्यदस्तीत्यवधारयेत्यर्थ" इतिव्याख्यानात् कथमाश्रयत्वं शरणपदार्थं इति वाच्यम् । मृदो नान्यो घट इत्यत्र यथा घटाश्रयत्वं मृदो भाति तथा जगदाश्रयत्वस्वाश्रयत्वयोर्भानाच्छरणागतित्वोपपत्तेः । अत्र पुनः स्वपरयोः सतोरेव सोऽहमिति दर्शत इति भावरूपत्वमेव । त्रिषु परस्परवैलक्षण्यमाह—अतिशीतलतेति । अतिः पूजायाम् । सुशीतलतेत्यर्थः । हृदये इति शेषः । एवमुत्तरत्र । दाहः परकीयभावे व्याख्यातः । सोऽहमित्यत्र सामरस्यम् । केचित्तुतस्यैवाहमित्यतो ममासावेवेत्यस्यान्तरङ्गत्वमुत्कर्षमेवकारव्यत्यासादाहुः॥६२॥

अथ पञ्चविधः स नाम भावो-
प्यभिसम्बन्धविशेषभावहेतोः ।
बहुधा भगवन्तमाद्रियन्ते
कृतपुण्या निजवासनावशेन ॥६३॥

प्रिय के प्रति भिन्न-भिन्न सम्बन्ध की भावना के कारण पूर्वोक्त भाव फिर से पंचविध समझा जाता है । वैसे तो पुण्यशाली प्रेमी अपनी-अपनी वासना के अनुरूप असंख्य प्रकार से भगवान को देखते हैं । तथापि ये पाँच मुख्य भाव हैं ॥ ६३ ॥

त्रिविधविभक्तस्य भावस्य पाञ्चविध्यमाह—अथेति । पुनरित्यर्थः । पाञ्चविध्यं कथम् ? अभिसम्बन्धवशात् आभिमुख्येन यः सम्बन्धस्तद्भावनाविशेषवशादित्यर्थः । भगवदभिसम्बन्धविशेषाद् भावनाभेदादनन्ता इत्याह—बहुधेति । तथापि पञ्चप्रकारा मुख्या इति भावः ॥६३॥

श्रय शान्तमुपेहि वाऽस्य दास्यं
व्रज वात्सल्यमुताभ्युपेहि सख्यम् ।
अतिचिक्रमिषो भवाम्बुराशिं
धर माधुर्यमुतापि भावधुर्यम् ॥६४॥

शान्त भाव का आश्रयण करो। अथवा परमात्मा के प्रति दास्यभाव रखो, या वात्सल्यभाव ही प्राप्त करो, अथवा सख्यभाव में रहो, या फिर परमभाव माधुर्य को धारण करो, यदि भवसागर पार करने की इच्छा रखते हो ॥ ६४ ॥

भावपञ्चकं नामतो निर्दिश्य फलमाचष्टे—श्रयेति । शान्तमिति । भावमिति शेषः । भगवन्तं प्रति शान्तभावः, भागवतो दास्यभावः, भगवति वात्सल्यभावः। भगवति भगवतो वा सख्यभावः। भगवन्तं प्रति माधुर्यभावः। भवाम्बुराशिमतिचिक्रमिषो इति फलहेतुगर्भं सम्बोधनम् ॥६४॥

असुखं क्षणिकं च मायिकं चा-
प्यखिलं वीक्ष्य भवं प्रभोः प्रतीपम् ।
अजहत्तमनाददच्च नित्यं
प्रभुमेकं भज शान्तभावसंस्थः ॥६५॥

शान्तभावः—यह जगत परमात्मा से विपरीत है–सुखहीन है, क्षणिक है, मायामय है, ऐसा समझकर न त्यागने का प्रयत्न करो और न ग्रहण करने का ही। बस, शान्तभाव में स्थित होकर नित्य एकमात्र प्रभु का ही भजन करो ॥ ६५ ॥

शान्तभावं दर्शयति-असुखमिति "अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्" इति गीतासु । प्रभोः प्रतीपमित्युक्त्या प्रभोरेतद्वैपरीत्यं सूचितम् । सुखरूपो नित्योऽमायिकश्च प्रभुरिति । असुखत्वादनादानीयः क्षणिकत्वात्स्वयमेव हीयेतेति न त्यागायापि यत्न आस्थेयः ॥६५॥

महतामपि स प्रभुर्महीया–
नहमल्पोऽनुचरस्तदाश्रितोऽस्मि ।
इति कार्यमशेषमादधानः
प्रभुसेवैकपरो निजं दधीथाः ॥६६॥

दास्यभावः–प्रभु महानों में परम महान हैं, मैं तुच्छ दास हूँ, उन्हीं के आश्रित हूँ। इस प्रकार भाव रखते हुए कर्त्तव्य समग्र कार्यों को प्रभुसेवा समझकर करते हुए जीवन धारण करो ॥ ६६ ॥

दास्यभावमाह—महतामिति। महतामपि महीयानित्यन्वयः। महतां हनुमदादीनां ब्रह्मादीनामपि प्रभुरिति वा। अहमल्पोऽनुचरः सेवको दास इत्यर्थः। इति भावयन्नेव कर्त्तव्यमशेषमादधानः कुर्वाणः प्रभुसेवैकपरः प्रभुसेवैवैकं परं लक्ष्यं यस्य सः। एतेन सर्वमपि कार्यं प्रभुसेवाबुद्धचा कर्तव्यमित्युक्तं भवति। निजं दधीथा इति। जीवनं प्रभुसेवार्थमिति मन्वानस्य नात्महननसंभावनेति भावः ॥६६॥

प्लुषिणा मशकेन पन्नगेन
मनुजाद्यैश्च समस्त्रिभिः स लोकैः ।
स सखा परमेश्वरोऽर्जुनादे–
रिति भावेन भज प्रभुं सुपर्णम् ॥६७॥

सख्यभावः—भगवान फतींगे के भी बराबर हैं, मच्छर के भी समान हैं, सर्प, मनुष्य आदि तीनों लोकों के भी समान हैं। समान होने से ही वे अर्जुन एवं गोपबालादि के सखा हुए। तब मेरे भी सखा ही हैं। इस भाव से (शरीरवृक्षस्थ पक्षीरूप) सुपर्ण प्रभुका भजन करो ॥ ६७ ॥

सख्यमाह—प्लुषिणेति। "समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैरि"ति श्रुतिः। न च श्रुतौ प्राणवर्णनमिति वाच्यम्। प्राण उद्गीथ ॐकारः स परमेश्वर इति तस्यापि तत्त्वलाभात्। प्लुषिः पुत्तिका। नागः सर्पो

हस्ती वा। त्रिभिर्लोकैरित्यनेन मनुजादिर्विवक्षित इत्याशयेनाह—मनुजाद्यैरिति। समत्वकथनतात्पर्यमाह—स सखेति। समानं ख्यायत इति सखा। अर्जुनगोपालादेः सखित्वं स्पष्टमित्याह—अर्जुनादेरिति। इति भावेनेति। एवं स्वसखत्वस्यापि सिद्धेरिति भावः। सुपर्णमिति। "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" इति श्रुतिः स्मारिता। अर्जुनादिसखत्वेनापि शक्यते चिन्तयितुम्। सोपि सख्यभाव एव।।६७।।

समधिक्रमितुं स लिप्सतेऽल्पः
प्रसुवः क्रोडतलं रुदन् महत्याः।
अनुलक्षय नन्दवत्सलं तं
हृदि सौन्दर्यनिधानमर्भकाभम् ।।६८।।

वात्सल्यभावः—नन्दवत्सल श्रीकृष्ण यशोदा माता की गोद में बैठने के लिये लालायित हैं। नन्हें से हैं। रो रहे हैं। इस प्रकार वात्सल्यभाव विषय, सकलसौन्दर्यनिधान, बालरूप हरि का चिन्तन करो ॥ ६८ ॥

वात्सल्यं लक्षयति-समधीति। समधिक्रमितुं समारोढुं स भगवान् लिप्सते। अल्प इति। दास्ये भक्तोऽल्पो महीयान् भगवान्। तदुक्तं महतामपि स प्रभुर्महीयानिति। सख्ये उभौ समानौ। तदुक्तं प्लुषिणा सम इत्यादि। वात्सल्ये वैपरीत्यं, भक्तो महान् भगवानल्प इति। अत एव जननीविशेषणं-महत्या इति। ननु यशोदादेरेतत्संभवेऽपि नास्माकमिति चेन्न। अद्यत्वेऽपि बालमुकुन्दपूजादावेवंभावस्य भक्तेषु दर्शनात्। भवतु वा यशोदादिनन्दनत्वेन चिन्तनं, तदपि वात्सल्यमेव। तदाह—अनुलक्षय नन्दवत्सलमिति। अर्भकवदाभातीत्यर्भकाभस्तमिति वात्सल्यस्फोरणार्थम् ॥ ५८ ॥

सतनूर्लहरीः पुरः स्फुरन्तीः
रससिन्धोरिव माधुरीः किशोरीः।
हृदि केशवरूपरञ्जितास्ताः
प्रणयैकप्रकृतीरुपास्स्व दिव्याः ।।६९।।

माधुर्यभाव:--उन व्रजकिशोरियों की उपासना करो जो मानो शरीर धारी माधुर्यरस हैं, रससिन्धु की प्रकट लहरियाँ हैं, जिनका हृदय सदा हरिरूपरंजित है, जिनका स्वरूप प्रेम ही है, जो दिव्य हैं ॥ ६९ ॥

माधुर्यमाह--सतनूरिति । सतनूर्माधुरीरिति सम्बन्ध: । पुर: प्रकटा रससमुद्र-लहरीरूपा: । हृदि रञ्जिता: किशोरीरिति वा हृद्युपास्स्वेति वाऽन्वय: । ता: प्रसिद्धा: । प्रणय: प्रेमा स एवैका प्रकृति: स्वभावो यासां ता: । सतनूरित्यादिकं सर्वं द्वितीययान्तम् । भगवता सह तासां यथोक्तरूपाणामुपासनमेव सर्वसाधारणो माधुर्यभाव: । भक्तिमतीनां स्त्रीणां तु साक्षादेव माधुर्यभाव: संभवति । सखीसं-प्रदायिनस्तु गोपीभावं स्वस्मिन्नारोप्य साक्षान्माधुर्यभावं पुंसामपीच्छन्ति । श्रीराम-कृष्णपरमहंसादेर्गोपीभावेन स्तनोद्गमादिरभूदित्यादिजनश्रुतिरस्ति ॥ ६९ ॥

समुपासत शान्तवत् कदाचित्
तमसेवन्त च दासिकावदिष्टम् ।
सखिवज्जमयन्ति मातृवत्ता:
इति माधुर्यमिदञ्च पञ्चभावम् ॥७०॥

पञ्चभावमिश्रण:— वे व्रज किशोरियाँ कभी शान्तभाव से भगवान की उपासना करती । कभी दासी के समान और कभी सखी होकर सेवा करती । कभी माता के समान जिमाती । इस प्रकार यह माधुर्य भाव तो पाँचों भावों का समाहाररूप ही बन जाता है ॥ ७० ॥

भावपञ्चकसमवायमाह--समुपासतेति । लङो बहुवचनम् । उपासनामकुर्व-तेत्यर्थ: । शान्तवदिति । "आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं योगीश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधै:।संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं गेहंजुषामपि मनस्युदियात्सदा न:" इत्यादिदर्शनात् । "भज सखे भवत्किङ्करी: स्म नो" इत्यादौ दास्यसख्ये दृश्येते । तदाह-तमसेवन्त च दासिकवदिति सखिवदिति च । सखायमिवेत्यर्थ: । वात्सल्यस्था-नमाह—जमयन्तीति । नवनीतादिकं जमयन्त्यो वात्सल्यं दध्रिरे । स्वत: सिद्धं

माधुर्यमिति माधुर्यभावोऽयं, चस्त्वर्थे, पञ्चभावं पञ्चानां भावानां समाहारः पञ्चभावं तद्रूपमित्यर्थः । उपलक्षणमिदम् । यशोदादेर्वात्सल्यं चतुर्भावम् । मुखविश्वरूपदर्शने शान्तस्य, सेवायां दास्यस्य, कर्त्तव्यविचारादौ सख्यस्य, स्वतः सिद्धवात्सल्यस्य च सत्त्वात् । सख्यं त्रिभावम् । अर्जुनादेः पितासि लोकस्य चराचरस्येत्यादौ शान्तस्य, सेवायां दास्यस्य, स्वतःसिद्धसख्यस्य च दर्शनात् । नात्र माधुर्यवात्सल्ये । सेव्येऽल्पत्वबुद्धिसत्त्वे एव वात्सल्योपपत्तेः । दास्यं द्विभावं हनूमदादेः । नात्र माधुर्यम् । नापि वात्सल्यं नित्यमहत्त्वदृष्टेः । अत एव समानताप्रयुक्तं न सख्यमपि । दासानां स्वामिनि कदापि साम्यभावविरहात् । शान्तं त्वेकलं शुद्धम् । एतदनुरोधेन दास्यादेरुत्तरोत्तरगरीयस्त्वं केचिदिच्छन्ति । उपाधिन्यूनताक्रमेण शुद्धपर्यन्तागमनात्पूर्वपूर्वगरीयस्त्वमपरे प्रतिपेदिरे । प्रेमणि त्वाग्रह इति ॥७०॥

अनुभावविभावसंभवं तं
रसमाहुर्निजभावजं च भावम् ।
प्रथमं तु सरस्वदूर्मिशोभं
स्फुटसोपाधिसरस्वदाभमन्त्यम् ॥७१॥

श्रृंगारादिरस और शान्तादिभाव में यह भेद है कि अनुभाव, विभाव एवं संचारी भाव से अभिव्यङ्ग्य स्थायी भाव को रस कहते हैं। अपने हृदय में दास्यादि जैसा भाव है उससे अभिव्यक्त भाव को भाव कहते हैं। समुद्र की तरंगों के समान श्रृंगारादि रस हैं। भाव तो सोपाधिक समुद्र ही जैसा है। जैसे नीलगगन प्रतिबिम्बोपाधि से समुद्र नील दीखता है, संध्यारुणप्रतिबिम्बोपाधि से रक्त दीखता है इत्यादि ॥ ७१ ॥

ननु पञ्चभाववन्नवरसाः कथं नात्र वर्ण्यन्त इति । उच्यते। तेषां दृश्यकाव्यनाटककाव्यादिप्रयुक्तविभावादिसाध्यत्वात्तादृशनाटककाव्यादिदर्शनश्रवणादिभिस्तेषां लभ्यतया तद्वर्णनमिहानतिप्रयोजनम् । वर्णिताश्च ते भक्तिसूत्रवार्त्तिकादावितीह स्वप्रयत्नसाध्यं किंचिदुच्यत इत्याशयवान् रसभावयोर्भेदं दर्शयन् सामान्यतो रसनिरूपणमपि प्रासङ्गिकतया करोति अनुभावेति । विभावेनानुभावेन

संचारिभावेन च संभवन्तं स्थायिभावं रसमाहुः। संभवं तमिति पदद्वयं वा। निज-भावजं स्वगतभावनाविशेषप्रादुर्भूतं च भावमाहुः। तदुभयं दृष्टान्तेन स्पष्टीकरोति प्रथममिति। सरस्वतः=समुद्रस्योर्मिवच्छोभत इति सरस्वदूर्मिशोभम्। यथा सागरस्य तरङ्गा भवन्ति एवमन्तर्गतप्रेमसागरस्य तरङ्गवद्रसा जायन्ते, विलीयन्ते च। प्रेमसागरस्तु यथावदवतिष्ठते। भावस्तु आविर्भूतसोपाधिकप्रेमसागर एव। यथा नीलगगनोपाधेर्नीलः सागरो भाति, सन्ध्यारुणारुणिमोपाधेररुणः। भाव एव सान्द्रः प्रेमेत्युक्तम्। अतोऽसान्द्रत्वमपि विशेषणं बोध्यम्। अपेतविच्छेदत्वोक्ते-र्नासौ लीयते। एतदाह-स्फुटेति। स्फुटीभूतो यः सोपाधिकः सरस्वान् सागरस्त दाभमन्त्यं भावमाहुरिति सम्बन्धः। दासादिभावना तूपाधिः। विस्तरः कादम्बिन्याम्॥ ७१॥

अनुपाध्यदनुश्चदूर्मिमालं
परमं प्रेम रसं विदुर्विशुद्धम्।
रसमात्रकलेवरं हरिं च
श्रुतिवाक्यप्रतिपादितं भजध्वम्॥७२॥

उपाधि न हो, तरंगें भी न हों ऐसे समुद्र के समान परम प्रेम है। वही विशुद्ध रस भी है "रसो वै सः" इत्यादि श्रुतियों ने उसी रस को परमेश्वरस्वरूप बताया है। उस रसैकस्वरूप हरि का भजन करो॥७२॥

रसभावयोर्निरूपणे सति परमप्रेमनिरूपणं सुकरमिति तयोः स्वरूपं प्रदर्श्याधुना परमप्रेमस्वरूपं दर्शयति-अनुपाधीति। न विद्यन्त उपाधयो यत्र, तत् न विद्यत ऊर्मीणां माला यत्र तत्। एतेन सागरत्वव्यक्तिः। निस्तरङ्गनिरुपाधिसागरोपमं परमं प्रेम। तमेव विशुद्धं रसं विदुः। च=किं च रसमात्रकलेवरं हरिं विदुः। तं "रसो वै सः" इत्यादिश्रुतिवाक्यप्रतिपादितं हरिं भजध्वं सेवध्वं, प्राप्नुतेत्यर्थः॥७२॥

इति षष्ठं प्रकरणम्

याहि त्वं शरणं महेशचरणं षोढापि बाढं सखे
संकल्पस्व सदानुकूल्यकलितं तं प्रतिकूल्योज्झितम् ।
रक्षिष्यत्ययमेव देव इति विश्रम्भस्व दम्भं जहद्
गोप्तृत्वे वृणु तं शरण्यमरणं कार्पण्यभावान्वितः ॥७३॥

षोढा शरणागति :—हे मेरे मित्र ! (मन !) बढिया तरह से छः प्रकार की शरणागतियों से भगवान् के चरणों के शरणागत बनो । भगवान् सदा मेरे अनुकूल हैं ' ऐसा संकल्प प्रथमतः करो । दूसरा :—'भगवान किसी प्रकार प्रतिकूल नहीं' ऐसी धारणा करो । तीसरा :—देव अवश्यमेव मेरी रक्षा करेंगे' ऐसा विश्वास करो । चौथा :—दिखावा त्याग कर रक्षक के रूप में भगवान् का वरण करो । पांचवां :—'वही मेरे आश्रय हैं' ऐसे भगवान् पर अपने को छोड़ो । छठा :—भगवान् के सामने दीन भाव युक्त हो ॥७३॥

दास्यसख्यःप्रसङ्गेन भावान् व्याख्यायात्मनिवेदनप्रसङ्गेन प्राप्ताः शरणागतीर्व्याचक्षाणः प्रथमं षोढा शरणागतिं सामान्यत उद्दिशति:—याहीति। सखे इति उपदेश्यस्य परस्य, स्वमनसो वा सम्बोधनम् । षोढापीत्युक्तमेव विवृणोति-संकल्पस्वेति । मदनुकूल एव परमेश्वर इति संकल्पः, न कदाचित्प्रतिकूल इति निश्चयः, अयमेव मां रक्षिष्यतीति विश्रम्भो विश्वासः, दम्भं विना रक्षकत्वेन वरणम्, अयंतेऽस्मिन्नितिसूच्यमान आत्मनिक्षेपः, स्वस्मिन् कार्पण्यमिति ताः षट् ॥७३॥

किं वाचं न ददावसावनुवते स्वीयं यशो दुष्कृते
किं वासौ हि निजास्तितां लघयते नैवाददादस्तिताम् ।
निस्तर्णास्तिकनास्तिकाद्यसमधीः सर्वानुकूल्यस्थितो
भव्यं स्वेषु तनोति योऽखिलसखो देवं प्रपद्यस्व तम् ॥७४॥

आनुकूल्य संकल्प :—भगवान् ने अपना यश न गाने वाले निन्दक पापी को क्या वाणी नहीं दी ? या वाणी वापिस लेकर गूंगा बनाया ? भगवदस्तित्व को मिटानेमें लगे नास्तिक को भगवान् ने क्या अस्तित्व नहीं दिया ? या अस्तित्व वापिस लेकर उसे असत् बनाया ? यदि नहीं, तो यही बात सिद्ध होती है कि नास्तिक-आस्तिक इत्यादि विषम बुद्धि से ऊपर उठ कर भगवान् स्वजनों का मंगल ही करते हैं। ऐसे सर्वसुहृत् सर्वानुकूलस्थित भगवान् की शरण ग्रहण करो ॥७४॥

आनुकूल्यसंकल्पात्मिकां प्रथमां शरणागतिमाह --किमिति। अनुवते= अस्तुवते। भगवन्निन्दया च दुष्कृते पापात्मने वाचं वागिन्द्रियं न ददौ किम् ? दत्तामपि किं प्रत्याददौ ? नास्तीश्वर इति निजास्तितां लघयते निरस्यतेऽस्तितां-जीवनं न ददौ किमिति पूर्ववत्। आस्तिकनास्तिकपुण्यपापात्मभेदधियं निस्तीर्णः सर्वानुकूल्यस्थितोऽखिलसखो भव्यं स्वेषु यस्तनोति तं देवं प्रपद्यस्व ॥७४॥

आबाधां विदधाति पापनिचयान् निर्मार्जितुं श्रीपतिः
पञ्चत्वं गमयत्यसौ तनुधरान् नूत्नां प्रदातुं तनूम्।
कल्पान्ते प्रलयं च विश्रमयितुं शान्तान् भवे भ्राम्यतः
कस्माद्धन्त बिभेषि भो न भगवांस्त्वत्प्रातिकूल्ये क्वचित् ॥७५॥

प्रतिकूल्याभावनिश्चय :—ईश्वर दुःख देता है तो तकलीफ के लिये नहीं, किन्तु पापों को धोने के लिये (दुःखोत्पत्ति से पापनिवृत्ति प्रसिद्ध है) देहधारियों को मृत्यु मारने के लिये नहीं, नवीन शरीर देने के लिये देता है। कल्पान्त में प्रलय सर्वनाशार्थ नहीं, किन्तु संसार में भ्रमण करने से थके प्राणियों को विश्राम देने के लिये है। क्यों भयभीत होते हैं ? ईश्वर की प्रत्येक क्रिया मंगलमयी है। ईश्वर तुम्हारे प्रतिकूल नहीं है ॥७५॥

प्रातिकूल्यविवर्जनात्मिकां द्वितीयां शरणागतिमाह—आबाधामिति। "पीडाबाधा व्यथे"त्यमरे आबाधेत्यपि च्छेदमिच्छन्ति। दुःखं न दुःखार्थमेव

विदधाति भगवान्। किं तर्हि? पापनिर्मार्जनार्थम्। तार्किकमते सुखदुःखयोश्चरमफलत्वेऽपि नैतद्भक्तानां संमतम्। किन्तु दुःखेन पापनिवृत्तिस्ततः शुद्धिस्ततो भक्त्युत्कर्ष इति रीत्या दुःखादेरपि साधनत्वमेव। पञ्चत्वं मृत्युं गमयत्यसौ न मारणायैव। किं तर्हि? नूतनां तनुं प्रदातुम्। वासांसि जीर्णानीत्यादिन्यायात्। ननु कल्पान्तकाले सर्वध्वंसनात्मकप्रलयस्तु प्रातिकूल्यात्मकमेवेत्यत आह—कल्पान्त इति। मरणेऽपि संसरणं न विश्राम्यति। शरीरान्तरं प्रति प्रयाणमेव हि तत्। तदेवं संसारखिन्नानां सर्वप्राणिनां निशि विश्रामार्थं महेश्वरस्य संजिहीर्षेत्यादिकं प्रशस्तपादवचनमनुसन्धेयम्। फलितमाह कस्मादिति ॥ ७५ ॥

कुर्वन्नर्भकजीवनाय जननीस्तन्यं कवोष्णं प्रभुः
सर्वेषां तनुधारिणामवनतोऽबन्नादितन्वन्नपि।
अण्डानामवनाय कौरवमृधे घण्टामुपर्युत्क्षिपन्
रक्षिष्यत्यखिलापदः प्रतिपदं विश्वं स विश्वस्यताम् ॥७६॥

रक्षाविश्वासः—नवजात शिशु के लिये भगवान् को फिकर हुआ। रोटी नहीं खा सकता। अतः माता का दूध उत्पन्न किया। सो भी ठंढा होता तो वायु कारक होता। अतः धारोष्ण बनाया, जिससे मुँह भी न जले। समस्त शरीरधारियों की रक्षा के लिये अन्न जलादि पैदा किया। देखो महाभारत युद्ध में—पक्षी का घोंसला नीचे गिरा। युद्ध में बच्चे नष्ट न हो इसके लिये एक हाथी के गले में लगा लगा घंटा टूटकर उसके ऊपर ढक्कन के समान गिरा। बाद में उसे उठाने पर पक्षी शावक जीवित निकले कैसी लीला? पग-पग पर आपदाओं से विश्वको भगवान् बचाते हैं विश्वास रखो ॥७६॥

रक्षाविश्वासरूपां तृतीयां शरणागतिमाह—कुर्वन्निति। सद्योजातशिशोर्भोजनासमर्थस्य रक्षणाय जननीस्तन्यं शीतत्वे वायुदोषापत्तेरत्युष्णत्वे मुखदाहापत्तेः कवोष्णं-मन्दोष्णं कुर्वन्। अथ च सर्वेषां शरीरधारिणां रक्षणायान्नजलादि निर्मिण्वन्। किं बहुना, वृक्षपतितनीडगतपक्ष्यण्डरक्षणाय महाभारते हस्तिघण्टां

संत्रोटच तदुपर्युत्क्षिपन्, लीलाप्रदर्शनव्याजेन पाण्डवेन तामुद्घाटच शावकान् रक्षन्नित्यपि बोध्यम् । स भगवान् विश्वस्यतां सर्वस्या आपदः प्रतिपदं विश्वं स रक्षिष्यतीति ॥ ७६ ॥

स कारयति साधु कर्म यमिहोन्निनीषत्यसा--
वसाधु च स कारयत्यवनिनीषते यं प्रभुः ।
वृथाभिमतिमातनोषि हृदि कर्त्तुरेनां हर--
न्नुशन् शमसि चेद्धरौ कुरु तदात्मनिक्षेपणम् ॥७७॥

आत्मनिक्षेप :--जिसे ऊपर उठाना है उससे प्रभु सत्कर्म कराते हैं, जिसे नीचे गिराना है उससे वही प्रभु असत् कर्म भी कराते हैं, तुम मन में से कर्त्ता का अभिमान निकाल दो, सब कुछ करने कराने वाले प्रभु ही है इस प्रकार भगवान् पर छोड़ो, स्वयं को भी उसी पर छोड़ो ॥७७॥

आत्मनिक्षेपात्मिकां चतुर्थीं शरणागतिमाह-स इति । गोप्तृत्वे वरणस्य क्रमप्राप्तत्वेऽपि रक्षाविश्वासोत्तरवक्तव्यत्वेऽपि च कुतो भगवत एव गोप्तृत्वे वरणीयत्वमित्यत्र हेतुविधया वहु वक्तव्यमस्तीति सूचीकटाहन्यायेन तन्निरूपणमन्ते करिष्यन्नात्मनिक्षेपकार्पण्ये प्रथमं निरूप्येते । तत्रात्मनिक्षेपं सहेतुमाह-स इति प्रसिद्धनिर्देशः । कारयितृत्वेन परोक्षोऽपि स एव कारयति साधु चासाधु च । तथा च श्रुतिः "एष एव साधु कर्म कारयति यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते एष उ ह्येवासाधु कारयति यमधो निनीषत" इति । नन्वेवमसाधुकर्म कारयतः प्रतिकूलत्वं कथं न स्यादिति चेन्न । जयविजयाभ्यामसाधुकर्माऽविधापने वराहनृसिंहश्रीरामश्रीकृष्णावतारणामनुपपत्त्या भक्तिप्रयोजकलीलानुपपत्तेः । साधारणजनानां तु पूर्वकृतमहापापानां तत्फलायोद्बोधनार्थत्वात् । "तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाती"ति श्रुतेस्तस्मिन्नात्मचैतन्ये सत्येव सर्वक्रियाणामुपपत्तेश्च । तथा चाहं कर्तेति वृथाभिमानो मिथ्याभिमानः । अतः एनां मिथ्याकर्त्रभिमतिं हरन्--त्यक्त्वेत्यर्थः । यदि शमुशन्नसि यदि स्वं कल्याणमिच्छसि तर्ह्येनां त्यक्त्वा हरावात्मनिक्षेपणं

कुरु। हरिरेव कर्त्ता कारयिता, नाहं किंचिदप्यस्मीत्येवंविधमात्मनिक्षेपणमित्यर्थः यद्यप्यात्मनिवेदनात्मनिक्षेपणयोर्वैशष्यमस्ति तथापि सर्वं प्रभुरेव करिष्यतीत्यंशे साम्यमिति पूर्वोक्तसंगत्युपपत्तिः ॥७७॥

क्व सर्वजगतः प्रभुर्जननरक्षणक्षाणकृत्
क्व चातिदयनीयदीनतरजीनोऽयं जनः ।
असन्मतिसमुद्भवं स्वकमखर्वगर्वं जवाद्
विहाय हि पुरो हरेः कृपणतां गतह्रीर्भज ॥७८॥

कार्पण्यः—सकल जगत की सृष्टि स्थिति एवं संहार करने वाले प्रभु कहाँ ? और अत्यन्त दयनीय दीन जीवन वाले ये जन कहाँ। अपने बड़प्पन का महान् गर्व तो केवल मूर्खता ही है। इसे त्यागो, और लज्जा छोड़ कर भगवान् के सामने दीन भाव से रहो ॥७८॥

कार्पण्याख्यां पञ्चमीं शरणागतिं व्यनक्ति-क्वेति। सर्वजगतो जननं च रक्षणं च क्षाणं क्षयणं च "क्षै क्षये" इत्यस्मात्। तदेतत्त्रयं करोतीति तथा प्रभुः क्व। सर्वजगत् इत्यस्य प्रभुरित्यनेनाप्यन्वयः। क्व चायमतिदयनीयं दीनं च जीवनं यस्य स जनो जन्मवाञ्जीवः। अतश्चाज्ञानप्रभवमहं महानित्येवंविधं महागर्वं शीघ्रमेव विहाय हरेः पुरतः कृपणतां दीनतां विगतलज्जः सन् भज ॥७८॥

प्रत्यक्षं यदि वा परोक्षमिह चेद् गोपायितारः सखे
सन्त्यन्ये तव देवदानवमुखाः सन्तूर्जिताः कोटिशः ।
किन्त्वेतानपहाय दूरमखिलानात्मस्वरूपं हरिं
गोप्तृत्वे वृणुयाश्चिरन्तनसखं सर्वानपायाश्रयम् ॥७९॥

रक्षकवरण :—हे मित्र प्रत्यक्ष (भ्राता पुत्रादि) तथा परोक्ष-शास्त्र कथित देव-दानव-मानवादि अन्य रक्षक यदि तुम्हारे हो, ऐसे साधारण दो चार तो क्या करोड़ों बलवान भी हों, तो भी इन सबको दूर से त्यागो

और हरि को अपने रक्षक के रूप में वरण करो। हरि सबके अविनाशी आश्रय हैं, तुम्हारे अनादि कालीन मित्र हैं, कभी बिछुड़ते नहीं, आत्म स्वरूप होने से समीपतम भी हैं ॥७९॥

गोप्तृत्वे वरणं षष्ठी शरणागतिस्तामाह—प्रत्यक्षमिति। भ्रात्रादयः प्रत्यक्षा लौकिकाः। देवादयस्तपःप्रभृतिभिः प्रत्यक्षाः। यदि वा परोक्षमिति। स्वम-प्रकटय्यैव रक्षितारः सुहृदो देवाद्याच्च यद्यन्ये तव गोपायितारः सन्ति तर्हि तादृशा ऊर्जिता वलवन्तः कोटिशः सन्तु कामम्। यदीति शङ्कायाम्। सन्देहमात्रं, न वस्तुतस्तथा सन्तीति भावः। किन्तु हितं ब्रवीमीदम्। किम्? एतान् दूरमपहाय। अन्यथाऽनन्यभावनीये विश्वासन्यूनतापत्तेः। हरिं गोप्तृत्वे वृणुयाः। तत्र हेतुगर्भानि विशेषणानि-आत्मस्वरूपमित्यादीनि। सर्वानपायाश्रयं-सर्वेषां जनानामपायरहित-माश्रयं रक्षितारम्। न ह्येवं देवादय स्तेषामपायित्वात्। किं च चिरन्तनसखम्। अनादिकालीनमित्रम्। अत एवं वियोगशङ्कानास्पदं विश्वासयोग्यं च। आत्म-स्वरूपमिति। अत एवातिनिकटम्। दूरस्थमित्रात्समीपस्थशत्रुरपि वरीयानिति लौकिकन्यायस्याप्यतो न प्रवृत्तिरिति भावः ॥ ७९ ॥

जहित सुहितान् देवानाहो नरानपरानुत
यदिह सकला देवाद्यास्ते पराश्रयिणोऽल्पकाः।
भुवनमखिलं गोपायन्तं स्वगोप्तृतया हरिं
वृणुत सकलत्रासत्राणं धिया तमनन्यया ॥८०॥

परमहितकारी भी देव मनुष्यादि को छोड़ो। ये सभी पराश्रयी हैं और अतिपरिच्छिन्न भी हैं। सकल भुवनरक्षक, अखिल भय हारी हरि को ही अपने रक्षक के रूप में अनन्यभाव से अपनावो ॥ ८० ॥

किन्त्वेतानपहायेत्युक्तम्। तत्र स्फुटो हेतुर्न दर्शितः। न च हरेरात्मस्वरूप-त्वादिकथनात्तद्वैपरीत्यं देवादिषु त्यागहेतुः सूचित इति वाच्यम्। तथानियमा-भावात्। न हि देवदत्तो विद्वानित्युक्तेऽन्ये सर्वे मूर्खा इत्युक्तं स्यात्। अतो हेतुं

स्पष्टयितुमाह-जहितेति । सुहितान्=सुष्ठुहितानपि देवमानवानपरान् दानवपश्वादीनपि जहित त्यजत । यद्-यस्मात् सकलास्ते देवाद्याः पराश्रयिणः—अत्यल्पाश्च । अतोऽखिलभुवनगोप्तारमत एवानितराश्रयं सकलेभ्यस्त्रासेभ्यस्त्रायत इति कर्त्तरि ल्युट् । "कृत्यल्युटो बहुलमि"ति स्मरणात् । तं हरिमनन्यया धिया । "अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता" तद्विषयिण्याधियाऽभेदबुद्धया वा गोप्तृतया वृणुत ॥ ८० ॥

सर्वेऽप्येव नरामरासुरगणा द्वैतप्रपञ्चाश्रया
भीतास्तु स्वयमेव ते कथमिवाभीतिप्रदानक्षमाः ।
देवं तं परमार्थसच्चिदमलं गोप्तारमीशं हरिं
सर्वस्याश्रयमद्वितीयमभयं प्राप्नुश्च ह्यनन्याश्रयः ॥८१॥

सभी देव-दानव-मानव द्वैतप्रपञ्च में स्थित हैं, स्वयं भीत हैं । वे औरों को कैसे अभयदान कर सकेंगे अतः सत्य, निर्मल, सच्चिदानन्द, सर्वाश्रय अद्वैत अभय हरि को ही अनन्यभाव से रक्षकरूप में वरण करो ॥८१॥

ननु किंचित्कालं देवाद्या भयात्त्रातुमर्हन्तीति चेत्तत्राह—सर्व इति । सर्वेऽप्येव नरामरासुरगणा द्वैतप्रपञ्चमाश्रयन्ते स्थानत्वेन बुद्धिविषयत्वेन च । अत एव भीतास्ते । "द्वितीयाद्वै भयं भवती"ति श्रुतेः । "भयादस्याग्निस्तपती" । त्यादिविशेषवचनाच्च । स्वयमेव ते भीताः कथमन्येभ्योऽभीतिप्रदाने क्षमाः । द्वैतेत्युक्त्या मिथ्याभिनिवेशिन इत्यपि सूचितम् । हरिस्त्वतो विपरीत इति गोप्तृत्वे वरणीय इत्याह-देवमिति । देवमानन्दस्वरूपं तं परमार्थं सच्चिद्रूपं मायामलरहितं सर्वाश्रयं परमार्थतोऽद्वितीयमत एवाभयमीशं हरिमनन्याश्रयः सन् प्राप्नुहि ॥ ८१ ॥

शरणं व्रजेशमपहाय नोदनां
प्रतिनोदनां च यदि वेद कोविदः ।
अपि च प्रवृत्तमथवा निवृत्तकं
श्रवणीयमेव बहुशः श्रुतं तथा ॥८२॥

विधि और निषेध के चक्कर में मत पड़ो। प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग की तलाश मत करो। श्रवणीय और श्रुतकी भी परवाह न करो। इन सब को छोड़कर भगवान् की शरण में जाओ ॥८२॥

देवादीनां गोप्तृत्वे वरणं प्रत्याख्याय वेदादेरपि तत्प्रत्याचष्टे-शरणमिति। ईशं भगवन्तं शरणं व्रजेत्यन्वयः। नोदनां विधिं, प्रतिनोदनां निषेधम्। प्रवृत्तं = प्रवृत्तिधर्मं, निवृत्तं निवृत्तिधर्मम्। श्रोतव्यं श्रुतं च वेदशास्त्रादिकम्। उक्तं च भगवता—"यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति। तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।" हरिकथाश्रवणादिकं तु ग्राह्यम्। अत्र भागवतवचनं—"तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्। प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च॥ मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्। याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः" इति ॥८२॥

असुखं सखे वसुसुखं क्षणिकं
किमु गोपितुं जगदिदं प्रभवेत्।
प्रभुमेव नित्यसुखतानमतः
शरणं शुचापहरणं वृणु तम् ॥८३॥

हे मित्र! क्षणिक धनदारादिरूप यह जगत असुख रूप है। यह भला तुम्हारी क्या रक्षा करेगा?। अतः नित्य आनन्दैकरस शोकहारी प्रभु की ही शरण ग्रहण करो ॥८३॥

देवादीन् वेदादींश्च निराख्याय लौकिकानपि निराचष्टे—असुखमिति। वसुसुखं—धनदारादिकम्। क्षणिकसुखं च। तथा च नाशाद् दुःखाच्च भयमेव। तदिदं त्वां कथं गोपितुं प्रभवेत्। प्रभुस्तु नित्यश्च सुखतानश्चेति तद्विपरीतः। शुचेत्यावन्तत्वं भागुरिमतेन। शोकापहरणं प्रभुमेव शरणं वृणु ॥ ८३ ॥

समतां कलयान्तिके सुपर्णो
ऽभिदया वा भज बिम्बरूपमीशम्।

अयि मा स्म कृथा वृथाऽनिजेषु
द्रुतविस्रम्भमसन्निधिष्वसत्सु ॥८४॥

अति समीप सुपर्ण (परमात्मा) में ममत्व करो। अथवा परमात्मा में अभेद भाव रखकर भजन करो। क्योंकि जीवात्मा प्रतिबिम्बरूप है। इन देवादि तथा धनदारादि में ममता न करो। ये सब एक तो अपने नहीं हैं और समीपस्थ भी नहीं। आज यहाँ तो कल वहाँ हैं। तीसरी बात—ये सब असत् पदार्थ हैं। जल्दबाजी में इन पर विश्वास न करो ॥८४॥

शरणागतिमुपसंहरन्नुक्तार्थं संक्षिपति–ममतामिति। "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" इति श्रुतेः सखित्वाद्वा सुपिपर्ति परिपालयतीति पालकत्वाद्वा पातीति पिता सुपिपर्ति चायमिति पितृत्वाद्वा सुपर्णे भगवति ममतां कलय। "समानं वृक्षं परिषस्वजात" इति श्रुतेरन्तिके निकटतमे तथा च विस्रम्भोऽपि सुफलः। एतदपि भेदवासनां यावदेव। ततः परमभिदया वा भज। नन्वेवं कथं द्वौ सुपर्णौ ?। तत्राह—बिम्बरूपमिति। बिम्बप्रतिबिम्बभावेन प्रातीतिकं द्वित्वमिति भावः। अन्ये तु विपरीताः। कथम् ? अनिजत्वाद् असन्निधित्वाद् असत्त्वाच्चेति। द्रुतविस्रम्भमविचारितविश्वासं मा कृथाः ॥ ८४ ॥

इति सप्तमं प्रकरणम्

भगवत्करुणोपनीतचेता
निपुणः सत्कृपया विशुद्धबुद्धिः।
श्रवणादिषु कौतुकं दधानः
प्रणयारम्भमुपैति कौतुकाख्यम् ॥८५॥

कौतुकः—यहाँ से भक्ति की अष्टादश भूमिकाओं का वर्णन है। भगवान की कृपा से जिसका चित्त भगवान की ओर लगा, संत कृपा से जिसकी बुद्धि शुद्ध हो गयी, अतएव निपुण बना वह साधक श्रवण-

कीर्त्तनादि में कुतूहलता से प्रवृत्त होने लगता है। यह प्रणय का आरंभ है। कौतुक नाम की प्रथम भूमिका है ॥८५॥

एतावता प्रबन्धेन साध्यसाधनभेदभिन्ना भक्तिर्निरूपिता । अथ तस्याः क्रमिकप्रकर्षजन्या अष्टादश भूमिका निरूप्यन्ते । द्वादशश्लोक्या प्रेमपर्यन्ता द्वादश भूमिका व्याख्यायन्ते । ततः परं प्रेम्ण एवोत्तरोत्तरोत्कर्षनिबन्धनाः षड् भूमिकाः । तत्र प्रथमां कौतुकाख्यां भूमिकामाह—भगवदिति । भगवत्करुणया उप समीपेऽर्थाद्भगवत एव नीतं चेतो यस्य सः । अयमर्थः—"स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणादि" त्याचार्योक्तेरनेकजन्मार्जितस्वधर्मतपःप्रभृतिजन्यपुण्यैर्हरितोषणं भवति । ततस्तुष्टस्य हरेः कृपा संजायते । एतेनैतदुक्तं भवति-धर्मानुष्ठानादिकं भक्तिप्रयोजकमपि न भक्तिभूमिकान्तर्गतम् । भक्तेः प्रेमरूपत्वात्तदीयपूर्वोत्तरावस्थयोरपि भूमिकारूपत्वात् । न च तत्प्रेम सहसा संभवति । "मुक्तिं ददामि कर्हिचित्स्म न भक्तियोगमि" ति भगवतैवोक्तत्वात् । भक्तिभूमिकायामारूढस्य तु कालेन भक्तिर्भवत्येवेति भगवत्करुणाया एवेदं फलं प्रथमभूमिकारूपमपीति । किं च सत्कृपया महापुरुषकृपया विशुद्धा भक्तिप्रतिबन्धकपापमलरहिता बुद्धिर्यस्य स विशुद्धबुद्धिः । "लभ्यतेऽपि तत्कृपयैवे" ति सूत्रकारोक्तेर्भगवत्कृपायाः प्राथम्यम्, सत्कृपायाश्चानन्तर्यं दर्शितम् । तत एव निपुणो भगवत्स्वरूपादिग्रहणे । स श्रवणादिषु-भगवत्कथाश्रवणकीर्त्तनादिषु कौतुकं कुतूहलं दधानः प्रणयारम्भमुपैति कौतुकाख्यम् । कौतुकं नाम सामान्यज्ञानप्रयुक्तविस्मयाविष्टजिज्ञासाविशेषः । इच्छात्वादिवद्विस्मयत्वमपि जातिविशेषः सर्वानुभवसिद्धः । "आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोतीति च गीतासु । जिज्ञासायामन्तर्निहितः प्रेमाऽनुद्भूतः । अधिकं कादम्बिन्याम् ॥८५॥

उपजातकुतूहलस्य नित्यं
श्रवणादावभिलाषिणोऽनिशेऽपि ।
रुचिरुद्भवति स्वयं महेशे
रतिबीजं न यतोऽरुचिः कदाचित् ॥८६॥

रुचिः—कुतूहलता उत्पन्न होने पर नित्य-निरन्तर श्रवणादि की अभिलाषा होने लगती है तो भगवान में रुचि उत्पन्न हो जाती है, जो रतिका बीज है, जिसके होने पर फिर कभी अरुचि नहीं होती ॥८६॥

द्वितीयां रुचिभूमिकामाह—उपजातेति। उपजातकुतूहलस्य-जातोत्कण्ठस्य नित्यं प्रतिदिनमनिशेऽपि निरन्तरप्रवर्त्तमानेऽपि अभिलाषिणः जायमानाभिलाषस्य स्वयं महेशे भगवति रुचिरुद्भवति। तच्च रतेर्बीजस्वरूपं यतः यत्कारणं कदाचिदपि श्रवणादावरुचिर्न भवति। अभिव्यज्यमानसुखविशेषविशिष्टाभिलाषा रुचिः। सा चारुचिप्रागभावासमानाधिकरणा। त्रैकालिकीच्छा रुचिरित्यपरे ॥८६॥

अरुचेः सकलेषु लौकिकेषु
प्रियवस्तुष्विह वा परत्र वापि।
भगवत्युपयाति वर्धमानां
प्रियतामङ्कुररूपिणीं रतिं सः ॥८७॥

प्रियता:—परमेश्वर में रुचि होने पर लौकिक प्रिय वस्तुओं में चाहे वह ऐहिक हो चाहे पारलौकिक, अरुचि होने लगती है। तब उत्तरोत्तर बढ़ती हुई भगवत्प्रीति होती है। यही अंकुररूपिणी रति है, और यही प्रियता नाम की तृतीय भूमिका है ॥८७॥

प्रियतालक्षणां तृतीयां भूमिकामाह—अरुचेरिति। इह वा परत्र वा यानि लौकिकानि वस्तूनि। भगवल्लीलोपकरणव्यावृत्त्यर्थं लौकिकत्वविशेषणम्। तच्च वास्तविकं वैज्ञानिकं वा। तेन केषांचिन्मते सांप्रतिकव्रजलतादीनामलौकिकत्वविरहेऽपि न क्षतिः। तेषु प्रियवस्तुषु-प्रियत्वेनाभिमतवस्तुषु अरुचेर्भगवति वर्धमानामिति, तेन प्रेमत्वसन्देहो न कार्यं इति भावः। प्रियतामुपयाति। साऽङ्कुररूपिणी रतिर्बोध्या। स इति उपजातकुतूहलो लब्धरुचिः। अत्रारम्भबीजाङ्कुरशब्दैर्भूमिकाभेदप्रतिपादनमात्रं, न तु वस्तुभेदः। विषयरुच्यसमानाधिकरणभगव-

द्विषयकप्रकृष्टरुचित्वं प्रियत्वम्। प्रकर्षत्वं जातिविशेषः। स च रुचित्वादिव्याप्यो नानैव ॥८७॥

विषयान् विषवत् प्रतीयमाना-
नपहायामृतसारभावभाजि ।
कलयन् सुरतिं रथाङ्गपाणौ
भृशमानन्दति लब्धभावबीजः ॥८८॥

सुरतिः—धीरे-धीरे विषय तो विषवत् प्रतीत होने लगते हैं और परमात्मा अमृतसारस्वरूप। तब विषयों को सर्वथा त्याग कर भगवान में सुरति पाकर साधक अत्यन्त आनंदित होने लगता है। यह भावबीजरूपी सुरति नामक चतुर्थ भूमिका है ॥८८॥

सुरतिसंज्ञां चतुर्थीं भूमिकामाह—विषयानिति। पूर्वत्र विषयेष्वरुचिमात्रम्। अत्र विशेषः—विषवत्प्रतीयमानानिति। इदमपहायेत्यत्र हेतुविधया विशेषणम्। न तु व्यावर्त्तकम्। विषयपदेन च विषयभोगो विवक्षितः। भोग्यत्वानुस्मरणे सति विषवत्प्रतीयन्ते। तेन भक्तानां शब्दस्पर्शादिषु स्वरूपतो द्वेषविरहेऽपि न क्षतिः। वैपरीत्यं भगवत आह—अमृतेति। कलयन् सुरतिमिति। तल्लिङ्गं तत्फलं चाह-भृशमानन्दतीति। इदं च प्रदर्शितलक्षणस्य भावस्य बीजमित्याह—लब्धेति। भोग्यविषयविद्वेषकालीनभगवद्रतिः सुरतिरिति लक्षणम् ॥८८॥

गुरुषु क्वचन त्रपां भयं वा
दधदप्येव गतत्रपोऽपरेषु ।
प्रसरं स रतेस्तु भावबीजो-
च्छ्वयनं स्वेदमुदादिकल्लभेत ॥८९॥

प्रसरः—भगवत्कीर्त्तन नृत्य गीतादि करने में गुरुजनों के (बड़ों के) सामने कभी लज्जा कभी भय आदि होता है, किंतु अन्यों के सामने नहीं।

उस अवस्था को रतिप्रसर कहते हैं। भावबीज का उस समय उच्छ्वयन (फूलना) होता है। उस में स्वेद, कम्प, मोद आदि संचारी भाव होते हैं। यह प्रसर नामक पंचम भूमिका है ॥८९॥

प्रसरनाम्नीं पञ्चमीं भूमिकामाह--गुरुष्विति। स्वेतरापेक्षया ज्येष्ठा गुरवः। अपरेषु-गुर्वितरेषु। प्रसरन्ती रतिरेव प्रसरः। सम्यक् प्रसरणे सति प्रणय-भूमिकाऽग्रिमा। यद्यपि प्रसरशब्दः प्रणयपर्यायतया कोशेषु पठितः तथाहि "प्रश्रयप्रणयौ समावि"त्यमरटीकायां दीक्षिताः—'प्रश्रयेत्यत्र प्रसरेति पाठे सरतेर्बाहुलकादप्' इति। मेदिनीकारश्चाह--"प्रसरः प्रणये वेगे" इति। तथापि प्रसरशब्दे श्रूयमाणे झटिति प्रेमत्वाऽस्फुरणात् प्रणयपदे च तत्स्फुरणादत्र निरूप्य-माणो विशेषः सुघट एव। शब्दानां पर्यायाणामपि प्रेमप्रियताहार्दादीनां भवनागार-मन्दिरादीनां च किंचित्किंचिदर्थभेददर्शनाच्च। स क्वचिद्योगमपेक्ष्य क्वचित् सामान्यविशेषभावादिनेत्यन्यदेतत्। स लब्धसुरतिः प्रसरं लभत इत्यन्वयः। रतेः प्रसरं रतिप्रसरमिति वा रतेः पूर्वोक्ताया हेतोः प्रसरमिति वा योजना। अस्य स्वरूपं विशदयति—भावेति। वक्ष्यमाणस्य भावस्य यद् बीजं सुरतिरूपं पूर्व-श्लोकोक्तं तस्योच्छ्वयनमुच्छूनावस्थात्मकं, यथा बीजं मृज्जलसंयोगेऽङ्कुरोत्पत्तेः पूर्वक्षणे उच्छूनं भवति तद्वदिति। तस्य लक्ष्माह—स्वेदेति। भगवत्स्मरणेन कदाचित्स्वेदः कदाचिन्मोदः कदाचिद् भयमिति संचारिभावास्तस्य जायन्ते। तत्कारणमयं प्रसर इति। गुर्वितरलोकलज्जाविघटकभगवद्रतित्वं लक्षणम्। यत्र धाष्टर्यादिना लोकलज्जाविरहस्तत्र तदेव धाष्टर्यादि तद्विघटकं नतु भगवद्रतिरिति नातिव्याप्तिः ॥८९॥

स्वगुरोरपि संनिधौ जनाना-
मपि निर्लज्जतयाऽतिमात्रमेव।
अनुगायति नृत्यति क्वचित्स
प्रणयी भावनवाङ्कुरं प्रपन्नः ॥९०॥

प्रणयः—फिर धीरे-धीरे गुरुजनों (बड़ों) के सामने भी वह निर्भय एवं अत्यन्त निर्लज्ज हो नृत्यगीतादि करने लगता है। तब भावबीजका नवांकुर उत्पन्न समझ लो। यह प्रणयनामक षष्ठ भूमिका है ॥९०॥

प्रणयनाम्नीं षष्ठीं भूमिकामाह—स्वगुरोरपीति। "गुरूणामग्रतो वक्तुं किं ब्रवीमि न नः क्षमम्। गुरवः किं करिष्यन्ति दग्धानां विरहाग्निने" ति विष्णु पुराणे। अप्यर्थं स्वयं स्पष्टयति—जनानामपीति। निर्लज्जतयेति गीतनृत्यादि विषयकलज्जात्यागपरम्। अन्यलज्जात्यागात्यागयोरत्रानुपयोगात्। मीराप्रभृति-रुदाहरणम्। उत्तरभूमिकास्वपीदं समानमिति तत्रैतल्लक्षणांशगमनं न दोषाय। तथा च तादृशलज्जाद्यत्यन्तविघटकरतित्वं लक्षणम्। उत्तरभूमिकातिव्याप्तिवारणं तत्र वक्ष्यमाणविशेषणशून्यत्वाज्ज्ञेयम्। स प्रणयीत्यनेन प्रणयलक्षणमिदमिति सूच्यते। अस्य स्वरूपमाह—भावनवाङ्कुरमिति। उच्छूनभावबीजरूपा पूर्वा। इयं भावनवाङ्कुररूपा। समुद्गताङ्कुरोपमा तूत्तरा ॥९०॥

प्रणयानलदग्धकल्मषाणां
क्व भयं स्यात्क्व च संभ्रमः क्व दुःखम्।
अचितर्यखिलाश्रये हरौ ते
दधते प्रश्रयमुद्गताङ्कुराभम् ॥९१॥

प्रश्रयः—भगवत्प्रणयरूपी अग्नि से जिनके सभी पाप जल गये उनको फिर किसका भय, क्या दुःख और कैसा संभ्रम हो। वे सर्वरक्षक भगवान के आश्रय में सदा रहने लगते हैं। यह भाव बीजका उद्गत अंकुर (पौधा) समझो। यह प्रश्रय नामक सातवीं भूमिका है ॥९१॥

प्रश्रयरूपिणीं सप्तमीं भूमिकामाह—प्रणयेति। प्रसरत्यभिमुखीभूय; प्रणयति भगवन्तं, तेन प्रणीतो भगवन्तमेव प्रश्रयतीति क्रमानुसारेणेदम्। पूर्वोक्तः प्रणयोऽन-लवत्कल्मषाणि दग्धुमारभते। यावच्च सन्दग्धं भवति ततः परं स एव प्रणयः प्रश्रयभावमापद्यते। सर्वप्रारब्धकल्मषविशेषनिवृत्तिमाह क्व भयमिति। तथा च

भयसंभ्रमदुःखादिकार्यात्यन्तविघटकरतिरवं लक्षणम् । कुतो न भयादि ? तत्राह– अवितरीति । रक्षितृत्वाद्भगवतः । प्रश्रयतीति कुतः ? तत्राह––अखिलाश्रय इति । नान्यमयमधुना श्रयत इत्ययमेव प्रकर्षः । उद्गतभावाङ्कुरभूमिकेयम् । एतेन पूर्वभूमिकासु किंचित्पापमवतिष्ठत इति तत एव कारणादेतद्भूमिकातस्तासां व्यावृत्तिः । प्रणयक्रोधादिकं तु न पापफलमिति नाव्याप्तिः ।

प्रियसात्कृतजीवनः क्वचिच्च
प्रणयक्रोधवशाल्लभेत मानम् ।
तमवेक्ष्य करोति चाटुकारं
हरिरप्येव विवृद्धशाखभावम् ॥९२॥

प्रीतिः––इसके बाद भक्त का जीवन भगवान के साथ एक होने लगता है तो प्रणय क्रोध में भगवान के सामने भक्त कभी रुठने भी लगता है। तब हरि प्रत्यक्षतः या परोक्षतः उसकी बात को साकार कर उसको मनाने लगते हैं। भाव का पौधा तब बढ़कर शाखा-प्रशाखा वाला वृक्ष बन गया समझो। यह प्रीति नाम की आठवीं भूमिका है ॥९२॥

प्रीत्यात्मिकामष्टमीं भूमिकामाह––प्रियसादिति । प्रीणाति प्रीणयति चेति प्रियः । तथा चोभयत्र प्रीतिर्गम्यते । जीवनस्य प्रियसात्कृतत्वान्न स्वार्थप्रयुक्तं क्रोधादिकमिति पापादिराहित्यं सूच्यते । किं तर्हि क्रोधादौ प्रयोजकमिति चेत् । पुण्यविशेष एव । अत एव न प्रणयक्रोधे दुःखमिति सिद्धान्तः । विरहवदेव । न हि विरहे दुःखं वस्तुतः । प्रेमपोषकत्वात् । यद्धि प्रेमपोषकं तन्न पापफलं भवितुमर्हति । न ह्यपापफलस्य दुःखत्वसंभवः । ननु विरहदुःखं दुःखं न चेत् किं तदिति चेद ? रागमिति वक्ष्यामः । यद्यपि तार्किकादयो नैतन्मन्येरन् । तथापि तर्काविषयस्य प्रेम्णस्तर्केण योजयितुमशक्यत्वान्नानुपपत्तिरित्यलम् । प्रणयकोपवशाच्च लभेत मानम् । अस्य दुःखिनो दयनीयस्य दुःखं हरेति प्रार्थनायामपि तदनिवृत्तौ माननानशनादिकं भक्तः करोति । तदा झटिति तद्दुःखं क्वचित्प्रत्यक्षतः क्वचित्प-

रोक्षतो निवर्त्तयति चाटुकारीव। एतत्परदुःखविषयम्। भक्तस्य स्वस्य दुःखमपि भगवत्कृपैवेति स्वीकारात्तन्निवृत्तौ विनैव प्रार्थनां भगवतः स्वतः प्रवृत्तिः। उद्गतप्रेमाङ्कुरतोत्तरं विवृद्धा शाखा यस्य तादृशो भावो यस्य तमवेक्ष्येति योजना। भगवदावर्जनप्रयोजकप्रश्रय एव प्रीतिः ॥९२॥

असुखादचितः क्षणप्रणाशा-
दपयाता ममता हरौ विशन्ती।
इह भाव इतीरितोऽनुरागः
स भवेत् प्रेम तदेव सान्द्ररूपम् ॥९३॥

भावः—क्षणिक, जड एवं दुःखरूप प्रपञ्च से ममता हटकर पूर्णतया भगवान में प्रविष्ट होती है तो उसी को भाव कहते हैं। वही सान्द्र होने पर प्रेम होगा, यह आगे बतायेंगे। यह नवम भाव भूमिका है ॥९३॥

नवमीं भावभूमिकामाह—असुखादिति। विशेषणत्रयेण सच्चिदानन्दाद्भिन्नत्व-मुच्यते। एवंविधात्प्रपञ्चदपयाता स्वयमेव सा ममता कृत्स्नापि हरौ विशन्ती "त्वमेव सर्वं मम देवदेव" इत्यत्र ममेति ममतोक्तेर्मातृपित्रादिनिष्ठसकलममताया भगवति प्रवेशोक्तेः। एतदेवाभिप्रेत्य "सम्यङ्मसृणितस्वान्ता ममत्वातिशयाङ्कितो भाव" इत्यत्रातिशयपदं दत्तम्। अत्रेदं बोधम्। चतुर्थभूमिकायामेव लब्धभावबीज इत्युक्तेस्तत एव ममतारभ्यते। नवम्यामस्यां पूर्णममता वा ममत्वातिशयो वा भवतीति। योऽयं भावः स एव सान्द्रः प्रेमेत्यनुराग इति च वक्ष्यते। तदुक्तं—"भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यत" इति। एतदुक्तिश्चाग्रे प्रेमभूमिकासु भावसमाधीत्यादिसंज्ञालाभार्थमिति ध्येयम् ॥९३॥

द्रुतचित्ततया विलोकमानः
परितो भावमयेन लोचनेन।
अपुरोगमितप्रभुप्रभावो
व्रजति स्नेहमसौ प्रवृद्धभावम् ॥९४॥

स्नेहः—भाव उत्तरोत्तर बढ़ता है तो चित्त द्रवित होता है। भावमय चक्षु से वह चारों ओर देखता है तो सर्वत्र उसको स्नेह होने लगता है। प्रभु दुर्लभ है इत्यादि भावना समाप्त हो जाती है। यह स्नेह नामक दशम भूमिका है ॥९४॥

दशमीं स्नेहसंज्ञां भूमिकां निरूपयति—द्रुतेति। यद्यपि चित्तद्रुतिमन्तरा न काचिदपि प्रेमभूमिकोपपद्यते। तथाप्यस्ति द्रुतौ न्यूनाधिकभावः। स्नेहभूमौ सर्वथा द्रुतिरिति विशेषः। परितो भावमयेन लोचनेन विलोकमानः सर्वत्रैव भगवन्तं व्यापकात्मना पश्यतीत्यतोऽपुरोगमितप्रभुप्रभावः। "भयादस्याग्निस्तपति" दुर्गमः प्रभुरित्यादिर्यः प्रभावः सोऽपुरोगमितो भवति। एतावद्धयत्र विवक्षितम्। एवमसौ प्रवृद्धभावरूपं स्नेहं व्रजति। तथा च प्रभावावरणप्रयोजकभावत्वं चित्तद्रुति—प्रयोजकभावत्वं वा स्नेहलक्षणं बोध्यम् ॥९४॥

अभिलाषयुतां च रागसंज्ञा-
मुपयन् स्नेहमतल्लिकां महात्मा।
विरहासहनो ह्यसह्यदुःखं
प्रियसंयोगवशात् सुखं मिमीते ॥९५॥

रागः—वही स्नेह उत्कृष्ट तथा साभिलाष होने पर राग होता है। (जिसमें हृदय भगवत्रूप से रंजित होता है) भगवतविरह उसको असह्य होता है। किन्तु सांसारिक असह्य दुःख भी प्रिय संयोगवश सुखरूप प्रतीत होने लगता है। यह राग नामक एकादश भूमिका है ॥९५॥

रागाभिधानामेकादशीं भूमिकामाह—अभिलाषेति। अतिशयाभिलाषवत्त्वं विजातीयप्रियाभिलाषत्वं वात्र प्रविष्टम्। तत्प्रत्यायकं चिह्नमाह—विरहासहन इत्यादि। विरहासहनत्वं निम्र्ंथन्नाङ्गजातयित्यादिना द्वितीयस्यां विवरीष्यते। असह्यदुःखमपि भगवत्कृतत्वात्सुखं मिमीते। निर्घातश्च कशाकृतोऽपीत्यादिनैतद्विव-रीष्यते। विजातीयाभिलाषवत्स्नेहत्वं विरहाऽसह्यताप्रयोजकभावत्वं दुखाभिमत-धर्मिकसुखभानप्रयोजकभावत्वं वा लक्षणम् ॥९५॥

अतिदिव्यमवापयन् स्वसद्म
स्वपदं नूतननूतनश्रियं च ।
स वशं नयतेऽनुरागभाव-
प्रथितः प्रेमपदः प्रभुं महान्तम् ॥९६॥

प्रेमः—वह राग क्रमशः अनुराग बनकर स्वाश्रय-प्रेमी को अतिदिव्य बनाता है तथा प्रेमास्पद को नित्यनूतन सुन्दर बनाता है, एवं प्रभु को भी भक्त के वश में कर देता है। इसी को अनुराग एवं प्रेम कहते हैं। यह अनुराग नामक बारहवीं भूमिका है ॥९६॥

अनुरागप्रेमादिशब्दितां द्वादशीं भूमिकामाह—अतीति । स प्रवर्धमानो रागः स्वसद्म=स्वाश्रयं भक्तम् अतिदिव्यभावं प्रापयन् स्वपदं=प्रेमास्पदं नित्यनूतनशोभं चावापयन्ननुरागभावेन प्रथितः प्रेमशब्दितो महान्तमपि प्रभुं वशं नयते। स्वाश्रयदिव्यताप्रापकरागत्वं, स्वास्पदनित्यनूतनशोभाप्रापकरागत्वं भगवद्वशीकारकरागत्वं च लक्षणम् । नित्यनूतनशोभाप्रापकत्वं च दर्शनाद्यलंबुद्धिविघटकत्वमेव ॥९६॥

इत्यष्टमं प्रकरणम्

क्व शये क्व च यामि किं करोमी-
त्यविदन् गायति नृत्यति प्रयाति ।
अपि मूर्च्छितवत् क्वचापि शेते
स्मयते भावसमाधिमभ्युपेतः ॥९७॥

भावसमाधिः—कहाँ लेटा हूं, कहाँ जा रहा हूं, क्या कर रहा हूं इत्यादि कुछ भान नहीं। कभी गा रहा है, कभी नाच रहा है, कभी भाग रहा है, कभी-कभी मूर्छित के समान पड़ा रहता है, कभी हंसता है। भाव समाधि स्थित की ऐसी स्थिति होती है ॥ यह तेरहवीं भूमिका है ॥९७॥

एवं प्रेमपर्यन्ता भूमिकाः प्रदर्श्याधुना प्रेम्ण एव विशिष्टाः षड् भूमिकाः प्रदर्श्यन्ते। भावस्यैव सान्द्ररूपस्य प्रेमत्वाद् भावशब्देनोच्यन्ते। तथैव शिष्टानां व्यवहारात्। लौकिकविशेषज्ञानविरहकालीनप्रेमत्वं भावसमाधित्वम्। त्रयोदशी भूमिका ॥९७॥

कृपणत्वमुत प्रगल्भता वा
नहि नो राग उतापि नो विरागः।
व्रजति क्वचन त्वशेषमेतद्
भगवद्भावसमुत्थितोऽनघात्मा ॥९८॥

भावव्युत्थानः—कभी कृपणता, कभी प्रगल्भता, राग नहीं ऐसा भी नहीं, वैराग्य नहीं ऐसा भी नहीं, कभी ये सभी एक साथ भी होते हैं। फिर भी निष्पाप ही रहता है। भक्त की यह भावव्युत्थान भूमिका है ॥९८॥

भावव्युत्थाननाम्नीं चतुर्दशीं भूमिकामाह—कृपणत्वमिति। कृपणत्वादौ सत्यप्यनघात्मा। धनव्यये कथं नैवेद्यादि भवेदित्येवं पूर्वसंस्कारोत्थकृपणत्वादि द्रष्टव्यम्। भगवदर्थलौकिकविशेषज्ञानकालीनप्रेम भावव्युत्थानम् ॥९८॥

सततप्रियचिन्तनप्रसूतं
स महाभावमुपेत्य भावनिष्ठः।
प्रियरूपमिव प्रपद्यमानः
परमाश्चर्यवदीक्ष्यते जगत्याम् ॥९९॥

महाभावः—वह भावस्थ निरन्तर प्रियचिन्तन से महाभाव को प्राप्त करता है। वह प्रियसारूप्य को प्राप्त सा हो जाता है (जैसे गोपिकायें "कृष्णोऽहं पश्यत गतिं" इत्यादि में) जगत् में वह आश्चर्यवत् दीखने लगता है ॥९९॥

पञ्चदशीं महाभावभूमिकामाह—सततेति। स्वगतप्रियरूपतावलोकनकालीन-

प्रेमत्वम् । अत्र स्वबोधोऽप्यस्ति । कदाचित्तद्विरहेऽपि स्वाभाववोधो नास्ति । स्वत्वं तत्तद्व्यक्तित्वम् । इयं दशा श्रीकृष्णविरहकाले गोपाङ्गनानाम् । स्वयं कृष्णो भूत्वा पूतनावधाद्यभिनयात् । अग्रिमश्लोके तदुपपादयिष्यते ॥९९॥

अहमेव हरिर्नहीतरोऽसौ
जगदेतच्च मयैव संप्रसूतम् ।
इति वेत्ति महान्तमेत्य भावं
जडवन्मत्तवदाचरन्महात्मा ॥१००॥

मैं ही हरि हूँ । हरि कोई दूसरा नहीं है । मैंने ही जगत पैदा किया । इस प्रकार महाभाववाला देखने लगता है । वह महात्मा जड उन्मत्त समान व्यवहार करता है ॥१००॥

महाभावं निदर्शयति—अहमेवेति । नन्वेतदुत्तरभूमिकायामप्यस्तीत्यत आह--जडवन्मत्तवदिति । मत्तवत्त्वमेवाह--जगदिति । जगद्व्यापारवर्जमिति सूत्रकारोक्तेः जगन्मया विरचितमिति वेदनं मत्तोपमानामेव । ननु मत्त एव न तु मत्तवत्तत्राह-महात्मेति । कृष्णैक्यानुसन्धानकाले स्वोपाध्यननुसन्धानादुपपद्यते तथा वेदनमिति भावः ॥१००॥

समुपेयुषि रूढतां तु भावे
चिरकालप्रियभावनैकतानः ।
अतिशून्यमवेक्षते सदाऽयं
भुवनं प्रेष्ठमयं विलोकते वा ॥१०१॥

रूढभावः—चिर कालतक प्रिय भावना की एकतानता से वही महाभाव रूढ हो जाता है तो भक्त या तो जगत् को शून्य देखने लगता है, या फिर प्रियतममय देखता है । यह रूढभाव (रूढ महाभाव) नाम की सोलहवीं भूमिका है ॥१०१॥

षोडशीं रूढभावभूमिकामाह—समुपेयुषीति। भावे=पूर्वोक्तमहाभावे रूढतां समुपेयुषि। कथं ? चिरकालप्रियभावनैकतान इति हेतुगर्भम्। अतिशून्यं—"नेह नानास्ती"त्यतः। प्रेष्ठमयं—"सर्वं खल्विदं ब्रह्मे"त्यतः। अथवा "इक्षुः स्वं मधुरं व्यमुञ्चत रसमि"ति द्वितीयस्यां वक्ष्यमाणरीत्या रसशून्यत्वादतिशून्यम्। "शब्दस्तस्य रवो गतः श्रुतिपथमि" तिरीत्या प्रेष्ठमयमिति बोध्यम्। यद्यपि द्वितीयलहर्यां भूमिकाभेदेन तथोक्तं, तथाप्यत्र संक्षेपादैक्येन दर्शितम् ॥१०१॥

अथ भावमितौ प्रियौ निरूढं
प्रियभावं व्यतिगच्छतस्त्वभीक्ष्णम्।
इतरेतरतोऽद्भुतक्रियौ तौ
प्रभजध्वं मुहुरेव पादपातम् ॥१०२॥

निरूढ भावः—यह असाधारण है, निरूढभाव में दोनों तरफ भाव रहता है। तब परस्पर प्रियभाव की अदला-बदली होती है। उनका व्यवहार अद्भुत होने लगता है। एक दूसरे की क्रिया करने लगता है। वे सर्ववन्दनीय बन जाते हैं। ऐसी दिव्य विभूतियों के चरणों में पड़कर सेवा करो। यह निरूढ भाव नामक सत्रहवीं भूमिका है ॥१०२॥

निरूढभावरूपां सप्तदशीं भूमिकामाह—अथेति। इतः परे द्वे असाधारणे राधामाधवादेरेवेत्यतोऽथेति पृथगारम्भः। अत्र विशेषमाह—भावमिताविति। अयं निरूढभावो नैकतरस्य, किन्तूभयनियत इति द्विवचनस्य भावः। तौ प्रियभावं, न तु प्रियरूपं, सा त्वग्रिमा भूमिका। भावो भावनात्मकः। असकृद्=वारं वारम्। व्यतिगच्छतः। कर्मव्यतिहारे "न गतिहिंसार्थेभ्य" इति निषेधात्परस्मैपदम्। स्वभावविरहसमानाधिकरणप्रियभावकालिकप्रेमत्वम्। राधामाधवादेरेवैतद्दर्शनादाह-प्रभजध्वमिति ॥१०२॥

दधती हरिभावमेति राधा
स्वयमन्वेषयितुं वनेषु राधाम्।

वृषभानुजनेरुपेत्य भावं
हरिमन्वेषयितुं हरिश्च याति ॥१०३॥

हरिचिन्तन से हरिभावको प्राप्त राधा (मैं हरि हूं यूँ समझ कर) राधा को ही ढूंढने के लिये जंगल की ओर चल पड़ी है। तथा राधाभाव को प्राप्त हुए हरि स्वयं हरि को ही ढूँढने के लिये निकल पड़े हैं ॥१०३॥

प्रियभावव्यतिगमनमितरेतराद्भुतक्रियां च निदर्शयति––दधतीति। निरन्तर-हरिचिन्तनजनितहरिभावापन्ना राधा स्वं हरिं जानती राधाविरहेण राधा-मन्वेषयितुं वनेष्वेति गच्छति। "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहमि"ति निरन्तरराधाचिन्तनजनितराधाभावापन्नो हरिरपि हरिविरहासहिष्णुर्हरिमेवा-न्वेषयितुं याति। तथा चोक्तं भागवतसारस्तोत्रे :––

"कृष्णभावाकुला कृष्णभावाञ्चिता राधिकाऽमार्गयद्राधिकां हि स्वयम्।
राधिकाभावनाद्राधिकाभावभाक् कृष्णमन्वैषयत्कृष्ण एव स्वयम् ॥" इति ॥१०३॥

अधिरूढमथाभ्युपेयिवांसः
परमं भावमसंकुचत्प्रसारम्।
क्व च कृत्स्नतया क्व चांशतस्ते
व्यतिगच्छन्ति हि तत्त्वतः स्वरूपम् ॥१०४॥

अधिरूढ भावः–– अधिरूढभाव का प्रसार असंकुचित होता है। उसे प्राप्त होने पर कहीं पूर्णतः और कहीं अंशतः परस्पर रूपकी अदला-बदली हो जाती है। यह अधिरूढ भाव नाम की अठारहवीं भूमिका है ॥१०४॥

अष्टादशीमधिरूढभावभूमिकामाह––अधिरूढेति। अतिविलक्षणत्वादथेति पुनरारम्भः। अधिरूढं भावमुपेयिवांसः। भावेष्वयं परम इत्याह––परममिति। क्वचित्कार्त्स्न्येन क्वचिदंशतस्ते तत्त्वत एव, न तु भावनामात्रतः इति पुर्वतो वैलक्षण्यम्। व्यतिगच्छन्तीति बहुवचनप्रयोगः प्रियतमस्य भक्तस्वरूपव्यतिगमना-

नैयत्यार्थम् । भक्तानां भगवत्स्वरूपापत्त्यैव चारितार्थ्यात् । क्वचित्तु भागवतोऽपि व्यतिगमनं भवतीत्याशयेन व्यत्युपसर्गसमुदायः । एवं च पुण्डरीकादेर्विष्णुभावापत्तिरप्युदाहरणं भविष्यति । प्रियरूपापत्तिप्रयोजकप्रेमत्वं लक्षणम् ॥१०४॥

क्षणतः समलोकि गौरकृष्णः
क्षणतः श्यामलविग्रहा च राधा ।
अवलोक्य तथा विसिष्मियाते
कथमेवं न्विति कीर्त्तिदायशोदे ॥१०५॥

कीर्त्तिदा नन्ही राधा को गोद में रखकर कृष्णजन्म में वधाई देने आयी है। सामने यशोदा श्रीकृष्ण को गोद में रख कर बैठी है। क्षण में देखा कृष्ण गौर राधा श्याम हो गये। फिर पूर्ववत्। दोनों आश्चर्य में पड़ती हैं ॥१०५॥

अंशत इत्यस्योदाहरणं क्षणत इति । तथा च भागवतसारस्तोत्रे मदीयेः—

श्यामा हन्त सुताधुनैव हि कथं जाता यशोदे मम,
हं हो गौरतनुः कथं नु समभूत्सूनुस्तु मे कीर्तिदे ।
मैवं विभ्रम एष नौ ननु यथापूर्वं प्रपश्याम्युभौ,
राधामाधवयोर्गुणव्यतिकरः पायादयं नोऽव्ययः" इति ॥१०५॥

समभूत् स्फटिकप्रकाशकायः
स्फटिकाभा वृषभानुजा शिवोऽसौ ।
अभवत्सतताधिरूढभावा
भुवि कृष्णः पुरुषश्च कालिका सा ॥१०६॥

पौराणिक कथा ऐसी भी है कि शंकर जी पार्वती चिन्तन से राधारूप हो गये निशानी के लिये गौरवर्ण रखा। (शंकर तथा राधा दोनों गौर हैं) तथा कालिका शिवचिन्तन से पुरुषाकार कृष्ण हुई। निशानी के लिये श्यामवर्ण रखा। अतएव राधाकृष्ण युगल में राधा तनिक ऊँचा है ॥१०६॥

अत्र पुराणान्तरप्रसिद्धां गाथामुदाहरति—समभूदिति । शंकरपार्वत्यौ राधाकृष्णावभूतामिति । वर्णव्यत्ययाभावः प्रत्यभिज्ञानार्थमेव । तथा च प्रायः कात्स्न्येंन स्वरूपव्यतिगमनोदाहरणमिदम् । एतेन कृष्णशिवादिषूत्कर्षापकर्षवादिनामनुपादेयतापि सूचिता । यद्यपि स्वेष्टे उत्कर्षभावनाऽऽवश्यकी । तथापि देवतान्तरत्वाभावादन्यत्रापकर्षचिन्तनमयुक्तम् । अहमुत्कृष्टं भजामि त्वमपकृष्टोपासक इति वदन्तो हि स्वीयपाण्डित्यनैपुण्यं व्यञ्जयन्ति, परस्य च मौर्ख्यम् । तदेतद्भक्तानामभिमानत्यागिनां न शोभास्पदमित्यास्तां विस्तरः । इदं तु बोध्यम् । भावव्यतिगमनं रूपव्यतिगमनं च सार्वदिकं न भवतीति तत्कादायित्ककार्यमात्रम् । तद्धेतुभूतप्रेमप्रकर्षतारतम्यमेव भूमिकाभेदप्रयोजकम् । प्रकर्षत्वं जातिविशेष इति द्रष्टव्यम् ॥१०६॥

अथ नाम परानुरागसंज्ञं
परमप्रेमपदं दुरूहरूपम् ।
न सहस्रमुखः प्रभुर्विवक्तुं
यदि मन्दः कथयाम्यहं कथं वा ॥१०७॥

अब जिसको परानुराग एवं परम प्रेम कहते हैं उसका वर्णन करना चाहिये । किन्तु उसके बारे में विशेष विवेचना सहस्रमुख शेष भगवान भी नहीं कर सकते तो हमारे जैसे मन्दमति उसका वर्णन कैसे कर पायेंगे ? (अतएव यह भूमिका नहीं, व्यापक परमतत्त्व ही है) ॥१०७॥

एवमष्टादश भूमिकाः प्रदर्शिताः । इतः परं सकलजगदुपजीव्यपरमानन्दकल्लोलसागरसरूपमपाकृतदेशकालादिपरिच्छेदमधरीकृतपीयूषमहासरःसरसस्वीयकायसमाप्यायितं तुच्छीकृतसालोक्यादिमुक्तिकलापं बन्दीकृतसौरस्यसौरम्यसौकुमार्यसौष्ठवादिसारविसरमुपमर्दितविधिनिषेधकलाकलापं भगवदनन्यविषयं परं प्रेम निरूपणीयमित्यत्राह—अथेति । नित्यनवमित्यतोऽथेत्यनेन पुनरारम्भः । नामेति प्रसिद्धौ । तामेव प्रसिद्धिं दर्शयति—परेति । "सा परानुरक्तिरीश्वरे" "सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा" इति शाण्डिल्यनारदाभ्यां संकेतितं

दुरूहरूप"मनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपमि"ति नारदोक्तेः प्रेमैव तथा चेत्परमप्रेमणि किं वक्तव्यम्। तच्च न सहस्रमुखः किं पुनरेकमुखः, तत्रापि पतञ्जल्यादिरूपेण शास्त्रप्रणयननिपुणः, किं खल्वयं मन्दः कथं वा कथयामि। प्रकारो नास्तीत्यर्थः ॥१०७॥

अथवाऽस्तु वचोविशुद्धयेऽद्धा
तदिदं प्रेम हि मङ्गलैकरूपम्।
रसमात्रकलेवरं परं वाङ्—
मनसागोचरमद्वयं सदेकम् ॥१०८॥

अथवा वाणी की विशुद्धि के लिये परम प्रेम का रूप हम इस प्रकार कहेंगे कि यही यथार्थ परम तत्त्व है, मंगलमात्ररूप है, रसमात्राकार है, वाणी और मन का अविषय, एक, अद्वितीय सत्य वस्तु है ॥ १०८ ॥

निर्वचनाद्दूरीकृतपराजयोऽपि उपलक्षणरूपेण किंचिद्वक्ष्यामीत्याशयेनाह—अथ वेति। अस्तु वच इदम्। किमर्थं ? विशुद्धये–प्रकरणशुद्धये आत्मविशुद्धये वा। तद्विषयककथनमल्पमपि मनःशोधनं, किं पुनस्तदनुभवः, कितरां तत्प्राप्तिरिति। वचोविशुद्धय इत्येकं पदं वा। वाक्शुद्धय इत्यर्थः। तत्=पूर्वोक्तम्, इदमिति, निर्दिश्यमानत्वेनाऽपरोक्षत्वात्। मङ्गलैकरूपं मङ्गलं भगवान् विष्णुरिति तदेकरूपम्। मङ्गलमेवैकं रूपं यस्येति वा। तेनोभयात्मकसंसारव्यावृत्तिः। सर्वथाऽमङ्गलमतोऽतिदूरापास्तम्। "ब्रह्म तन्मङ्गलं विदुरि"ति स्मृतेर्ब्रह्मरूपमिति वा। तस्य मङ्गलत्वं च दुःखाऽसंस्पर्शात्। अतिकल्याणरूपत्वादित्यादिपादत्रयोक्तहेतुभ्यो वा। रसेति। रसमात्रं कलेवरं यस्य। "रसो वै सः" इति श्रुतेः। वाङ्मनसागोचरं—"यतो वाचो निवर्त्तन्त" इति श्रुतेः। परं=परमं सद् सद्रूपमद्धा याथार्थ्यमद्वयमेकम् ॥१०८॥

प्रदर्शितं साधनसाध्यभक्त्योः
स्वरूपभेदादि निरीक्ष्य शास्त्रम्।

यथामतीदं जयमङ्गलेन
प्रसीदतु श्रीभगवांस्ततो मे ॥१॥

शास्त्र निरीक्षण कर साधन तथा साध्य भक्तियों का स्वरूप भेदादि का अपनी मति के अनुसार जयमङ्गलाचार्य ने यह निरूपण किया। इससे भगवान् प्रसन्न हों ॥ १ ॥

प्रथमां लहरीं संक्षिप्य भगवत्प्रसादमाशास्ते--प्रदर्शितमिति। साधनसाध्य-भक्त्योः स्वरूपभेदः, आदिना तदुदाहरणादि च क्वचित्। शास्त्रं शाण्डिल्यनारदादि-प्रणीतम्। यथामति--यथामननं यथानुभवं यथाबुद्धि च स्वान्तं प्रमोदयितुमिति यद्यपि प्रागुक्तं फलं तथापीदमतिरिक्तमाह—श्रीभगवान् प्रसीदत्विति। मे इत्यस्योभयत्र सम्बन्धः। मे भगवन्निति ममत्वदर्शनम्। मे प्रसीदत्विति मदनुग्रहफलोक्तिः ॥ १ ॥

इति श्रीजयमङ्गलाचार्य-महामण्डलेश्वरश्रीकाशिकानन्दयतेःकृतौ
दिव्यरसतरङ्गिण्यां भक्तिलहरी नाम प्रथमशतकम् ॥



दिव्यरसतरङ्गिणी

द्वितीया प्रेमलहरी

आदाय कत्कणशतांशमयं प्रपञ्चः
पीयूषसारसरसः प्रथतेऽनुरेणु ।
तं प्रेमसागरमनन्तसुखावबोधं
वन्दामहे कमपि गोपवधूविधेयम् ॥१॥

जिस (प्रेम सागर) के एक कण का शतांश मात्र लेकर यह प्रपञ्च अणु-अणु अमृत के समान सरस होता है, उस अनन्त सुख के बोधस्वरूप प्रेम सागर गोपवधू-विनयग्राही अनिर्वचनीय अद्भुत तेज (श्रीकृष्ण) की हम वन्दना करते हैं ॥ १ ॥

साधनसाध्यभक्तिभेदतत्स्वरूपादिकं प्रथमलहर्यां निरूप्य संप्रति तल्लक्षण-घटकप्रेम्ण एव स्वरूपं भूमिकाभेदेन स्फुटतरं वक्तव्यमिति द्वितीयलहर्यारभ्यते । आदायेति । प्रेमवृत्त्याऽभिव्यक्तांशमात्रेण सरसता सर्वस्य चेतपरिपूर्णतयाऽभिव्यक्ती का वार्त्ता । सागरस्यापि परिच्छिन्नत्वमाशङ्कमानं प्रत्याह—अनन्तेति अतिदुर्लभत्वं प्रेम्ण आशङ्क्याह-गोपेति । गोपा अज्ञा नितरां तद्वध्वः, तासां न केवलं प्राप्योऽपि तु विधेयः इति सौलभ्यमपि ॥ १ ॥

यत् स्वीयास्पदसत्त्वतो मरुभुवं पुष्णाति सस्योर्वरां
यच्छून्यां तदसत्त्वतश्च कुरुते सर्वाङ्गपूर्णां पुरीम् ।

तस्यासत्तिवशात् प्रकाशमभितो ध्वान्तं पुनस्तद्गतौ
धन्यं धन्यमनन्यगोचरपरप्रेमेदमत्यद्भुतम् ॥२॥

जो प्रेम अपने आस्पद (प्रेमास्पद) के होने से मरुभूमि को सस्यश्यामल बना देता है, जो उस (प्रेमास्पद) के न होने से सर्वाङ्गपूर्ण नगरी को भी शून्य बना देता है, जो उस प्रेमास्पद के सांनिध्य से चारों ओर प्रकाश एवं असांनिध्य से अंधकार फैला देता है, अनन्यास्पद एवं अत्यद्भुत वह परम प्रेम धन्य है, पुनः पुनः धन्य है ॥ २ ॥

सर्वलोकानुभवं ध्वनयंस्तमेव च दृष्टान्तीकुर्वन् प्रेम्णः परिपूर्णस्वप्रकाशानन्दलक्षणपरमपुरुषार्थतामाह--यदिति । परिपूर्णताकारित्वात्परिपूर्णरूपतेति पादद्वयतात्पर्यार्थः । प्रकाशकारित्वात्प्रकाशरूपतेति तृतीयपादार्थः । आनन्दकारित्वादानन्दरूपतेति पादत्रयध्वन्यार्थः । न चास्पदविरहे वैपरीत्यमपीति वाच्यम् । प्रेमास्पदस्य भगवतः स्वयं प्रेमरूपतायाः पूर्वमुक्तेरिति गूढाभिसन्धानात् । तथा च भक्तेः परमपुरुषार्थतासिद्धिः ॥ २ ॥

ऋद्धिर्गृध्यति पादपङ्कजरजःसेवातुरैषादरा-
न्मुग्धाः स्निग्धकटाक्षपातमधुरा नृत्यन्त्यमूः सिद्धयः ।
धन्यो भक्तवरेण्य एष परमा धन्यास्य भक्तिश्च य-
न्मुक्तिश्चातिसमुत्सुका क्षणकृपादृष्ट्यै पुरस्तिष्ठति ॥३॥

सेवा करने के लिये आतुर यह ऋद्धि चरण कमल रज के लिये तरस रही है। स्नेह युक्त कटाक्ष पात से मधुराकार ये सिद्धियां मुग्ध हो कर नृत्य कर रही हैं। धन्य है यह भक्तवर, एवं उसकी भक्ति भी धन्य है, जिससे मुक्ति भी अत्यन्त उत्सुक होकर क्षण मात्र की कृपादृष्टि के लिये सामने खड़ी है ॥ ३ ॥

भक्तेः परमपुरुषार्थत्वं स्थापयितुमृद्ध्यादीनां पुरुषार्थतामाभासयति ऋद्धिरिति। तृतीयपादस्थस्य अस्येत्यस्य सर्वत्र सम्बन्धः तथा चादराधिक्यादस्य सेवातुरा

सती शुद्धिरस्य पादपङ्कजरजो गृध्यति इत्येवं सम्बन्धः । भक्तिररिति । एतेनात्र प्रकरणे परमप्रेमैव निरूपणीयम् । क्वचिल्लौकिकप्रेमवत् प्रतीतिस्तु भूमिका-भेदस्फोरणार्थमिति सूचितम् । यद्यपि ऋद्धिसिद्धयादयो न काश्चन स्त्रियः । तदधिष्ठातृदेवतास्वीकारेऽपि मुक्तेर्दुःखध्वंसादिरूपायास्तथात्वं न संभवत्येव । तथापि भक्तिशास्त्रेषु तासां चेटिकारूपेण वर्णनान्नानुपपत्तिः वस्तुतस्तु न तास्वाकाङ्क्षेत्यत्र तात्पर्यम् । तदुक्तं भगवत्पादैः "न मोक्षस्याकाङ्क्षे" त्यादि देवीस्तवे । तदेतद् ध्वनयन्नाह—क्षणेति । क्षणमात्रकृपादृष्टिरस्मदुपरि भवत्विति, पुरस्तिष्ठति, न पुनरयं पश्यति हेयत्वादित्यर्थः ॥ ३ ॥

वैराज्यं तन्मघवपदवी सैव पुण्यौघगम्या
तद्धि स्वैरादमृतलहरीमज्जनं निर्जराणाम् ।
सालोक्याद्या मुनिवरवृता मुक्तयस्ताश्चतस्रो
यत् सप्रेम प्रियतमसमालोकनं नाम लोके ॥४॥

वही ब्रह्मलोक है; पुण्य प्राप्य इन्द्रपदवी भी वही है; देवताओं का सर्वस्व स्वैर अमृत सरोमज्जन भी वही है; मुनिजनवांछित सालोक्यादि चार प्रकार की मुक्ति भी वही है; जो कि संसार में सप्रेम प्रियतमाव-लोकन है ॥ ४ ॥

ननु न रत्नानि गृहीतानीति सुवर्णं न गृह्यते । तथा च भक्तेः परम-पुरुषार्थत्वेपि मुक्त्यादयः कुतो न स्वीक्रियेरन्नित्याशङ्क्य भक्तौ सर्वान्तर्भावान्मैव-मिति परिहरति वैराज्यमिति । वैराज्यं = वैराज्यसुखम् । एवं मघवपदव्यादि । एतेन ब्रह्मलोकपर्यन्तसककलपुरुषार्थप्रतिक्षेपः । "तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्ये"ति स्मृतेः । "रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवती"ति श्रुतेश्च । अत्र च "न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यं । न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मे-च्छति मद्विनान्यद्" इति श्रीमद्भागवतानुसारेण वैराज्यादिक्रमग्रहणान्न पतत्प्रकर्ष-दोषः । तृतीयपादे सालोक्यादिमुक्तिग्रहणेन पतत्प्रकर्षविरहाच्च ॥ ४ ॥

गुणातीतं गीतं गुणगणनिदानं भवति यद्
यदीक्ष्यं प्रत्यङ्गं सृतिमतिगतं वाङ्मनसयोः ।
अणीयोऽनन्तं सत् परममहदेकं यदमितं
परप्रेमाख्यानं किमपि जयतीदं हृदि सताम् ॥५॥

जो गुणातीत होने पर भी पावन गुणों का मूल कारण है, वाणी और मन का अविषय होने पर भी अंग-अंग में प्रकट दीखता है अणु होने पर भी परम महत और अपरिमित है, सत एक एवं अनन्त है महान पुरुषों के आश्चर्यमय उस प्रेम की जय हो ॥ ५ ॥

एवं प्रेम्णः परमपुरुषार्थत्वं संसाध्य तस्यालौकिकस्वरूपमाहाऽऽप्रकरणसमाप्ति । तत्र प्रथमं विरोधाभासं दर्शयति-गुणातीतमिति । गुणरहितं कामनाराहितमित्येवं नारदादिभिर्गीतम् । अथ च गुणगणनिदानम् । सगुणा एव तन्तवः पटादौ गुणाञ्जनयन्ति न त्वगुणा इति विरोधाभासः । परमेश्वरवत् त्रिगुणतः परत्वाच्छ्रेष्ठत्वाद्वा गुणातीतमिति परिहारः । वाङ्मनसातीतस्य नितरामतीन्द्रियत्वात्प्रत्यङ्गमीक्ष्यं प्रत्यक्षमिति विरोधः । पुलककम्पनादिषु प्रेमत्वोपचारात्परिहारः । अणीयः परममहदिति विरोधः । अनन्तमेकमिति । सतां हृदि मितमेवामितमिति च । सदेव सदाश्रितहृदाश्रितमिति च । परिहाराः सुगमाः ॥५॥

वनीकुर्वद्देशान् क्वचिदपि पुरीकुर्वदटवीं
क्षणीकुर्वत् कल्पान् क्षणमति युगीकुर्वदचलम् ।
असत् कुर्वत् पूर्णं सदसदपि च प्रेम नियतिं
चरत्येतन्नैरङ्कुश्यमिव विधुन्वद् विधिमपि ॥६॥

कहीं ग्रामों को जंगल; जंगलों को नगरी, कल्पों को क्षण, क्षण को कल्प, सत् को असत् एवं असत् को सत् बनाता हुआ यह प्रेम नियति एवं विधि को भी मसलता हुआ निरंकुशता के साथ विचर रहा है ॥ ६ ॥

अनन्तमित्युक्तम् । आनन्त्यं त्रिविधपरिच्छेदशून्यत्वम् । तद् भङ्‌ग्यन्तरेणाह–वनीकुर्वदिति । प्रथमपादेन देशस्य स्वाधीनत्वकथनेन देशाऽपरिच्छेद्यता ध्वनिता । द्वितीयपादेन कालस्य स्वाधीनत्वकथनेन कालापरिच्छेद्यता । तृतीयपादेन वस्तुनः स्वाधीनत्वकथनेन वस्त्वपरिच्छेद्यता । नियतिं विधुन्वदित्यनेन सर्वनियमानधीनत्वोक्त्या सर्वनियन्तृतारूपान्तर्यामिता विधिविधूननेन सर्वकार्यस्य स्वाधीनत्वोक्त्या परमस्वतन्त्रता । तां स्फुटमाह--नैरेति । निरङ्कुशमेव नैरङ्कुशम् । इवकारो लोकप्रतीतिरक्षार्थं । उदाहरणानि कादम्बिन्यां द्रष्टव्यानि ॥६॥

फुल्लाम्भोरुहयुग्ममस्य कुरुते नेत्रद्वयं प्रेयसो
भ्रूवल्लीं वितनोति तस्य विहरत्कल्लोललोलावलीम् ।
आस्यं तस्य गभीरनिर्मलपयःपूरं च पद्माकरं
प्रेमाऽपूर्वतरोऽन्यथाविधिपटुर्भौमो विधिः कोऽप्यसौ ॥७॥

वस्तु को अन्यरूप वनाने में पटु यह प्रेमरूपी अपूर्व भूतलगत विधाता बड़ा ही विलक्षण है । यह प्रियतम के नेत्रों को खिले कमल के दल बनाता है। भ्रूकुटि को चंचल तरंग माला एवं मुख को गम्भीर निर्मलजल से परिपूरित सरोवर बना देता है ॥ ७ ॥

ननु सौन्दर्यसौकुमार्यादिगुणगणनिमित्तकं कथमनन्तं कथमगुणं निरङ्कुशं चेत्याशङ्क्य नेदं सौन्दर्यादिजन्यं किन्तु तज्जनकमित्याशयेनाह--फुल्लेति । सौन्दर्यमवयवशोभा । तां प्रेमैवापादयति । न हि कुवलयलोचनामिन्दुवदनामतिकमनीयरूपिणीमपि कामिनीमवलोक्य शुनकगर्दभादयो मोहमापद्यन्ते । तत्कस्य हेतोः ? तेषां तत्र प्रेमविरहात् । शुनीमन्वेति श्वा । तत्कस्य हेतोः । तत्र प्रेमलवमिश्रितकामात्मकचित्तवृत्तिसत्त्वाद् । तस्मान्नेत्राद्यवयवशोभालक्षणसौन्दर्यं प्रेमाधीनमेव । अग्रे प्रेमैव सौन्दर्यमिति वक्ष्यति । ततः प्रेमैव वरणीयमिति ॥७॥

तत्पादौ नलिनीकरोति सुमनोहारिश्रियं संदधत्
तन्मूर्त्ति नवनीतयत्यनुपमं मासृण्यमापादयत् ।

तद्वक्त्रं च सुधाकरोति सरसं जीवातु संपादयत्
किंस्वित् प्रेम रसायनं किमथवा मन्त्रः समाधिस्तपः ॥८॥

मनोहर रूप प्राप्त कराकर प्रेमास्पद के चरणों को कमल बना रहा रहा है; मुलायम बनाकर शरीर को माखन बना रहा है; एवं सरस जीवनरूप संपादित कर मुख को अमृत बना रहा है। भला यह प्रेम क्या बला है? यह कोई रसायन या मन्त्र है, अथवा समाधि या कोई तप है? ॥ ८ ॥

अथ सौकुमार्यमाह––तत्पादाविति। सौकुमार्यं मार्दवम्। सौस्पर्श्यमाह-तन्मूर्तिमिति। शीतलत्वमसृणत्वादि सौस्पर्श्यम्। सौरस्यमाह तद्वक्त्रमिति। अलौकिक आस्वादः सौरस्यम्। किंस्विदिति। "जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धय" इति योगसूत्रम्। एतेन प्रेमवतां मन्त्रतपःसमाधयो गतार्था इति सूचितम्। भगवत्प्रेम-वतः सर्वत्र प्रेमावश्यंभावात्सर्वत्र सिद्धिप्रसरात्। शिष्टं पूर्ववद् ॥८॥

अर्वाङ्गोऽपि करालरूपकलुषः कन्दर्परूपायते
निर्वादोऽपि सरोषभावपरुषो गन्धर्वगीतायते।
निर्घातश्च कशाकृतोऽपि सुमनोहारोपहारायते
दोषौघोऽपि गुणायते प्रणयिनः काऽलौकिकीयं कला ॥९॥

भद्दा रूप वाला भी प्रेमास्पद प्रेमी के सामने कामदेव समान सुंदर हो जाता है। उसकी सरोष परुष गाली भी गंधर्व गीत समान मधुर स्वर हो जाती है। चाबुक की मार भी फूल की माला के समान सुख स्पर्श होती है। उस के सभी दोष गुण रूप ही बन जाते हैं। प्रेमी की यह कैसी और कौन सी अलौकिक कला है? ॥ ९ ॥

फुल्लाम्भोरुहेत्यादिना द्वयेन सामान्ये विशेषाधायकत्वमभिहितम्। अधुना-अर्वाङ्गोऽपीत्यादिद्वयेन विपरीते विशेषाधायकत्वमुच्यते। तत्रालावण्ये लावण्या-

पादकत्वमाह--अर्वाङ्ग इति । अपिकारः कैमुतिकन्यायार्थः । लावण्यं समुदायशोभा सौन्दर्यमवयवशोभा । सौस्वर्यापादकत्वमाह-निर्वाद इति । "अवर्णाक्षेपनिर्वादपरीवादापवादवदि"त्यमरः । रोषसहितो भावस्तेन परुषः सरोषभावपरुषः । निर्घात आघातस्ताडनम् । सुमनोहारः पुष्पमाला तस्या उपहार उपहरणम् तच्च क्रियात्मकं बोध्यम् । तेन निर्घातस्य क्रियात्मकत्वेपि नासंगतिः । एतेन सौस्पर्श्यमौदार्यं चापादयतीत्युक्तं भवति । सौगुण्यापादकत्वमाह--दोषौघ इति ।९।

दोषानेष गुणीकरोति सुखतामापादयत्यामया-
नाभोगीकुरुते निरन्तरभवामाभीलपारम्परीम् ।
पीयूषीकुरुते विषं किसलयस्तोमीकरोत्यर्चिषं
प्रेमाख्यो मनुरुग्रदुर्गतिमपि स्वर्गीकरोत्यद्भुतः ॥१०॥

प्रेम नाम का यह मन्त्र दोषों को गुण; रोगों को सुख; निरन्तर क्लेशपरम्परा को आभोग (सेवा शुश्रूषा आदि सब प्रकार से परिपूर्ण स्थिति), विष को भी अमृत, अग्निज्वाला को पल्लव समुदाय एवं (दुर्गति) नरक को भी स्वर्ग बना देता है । अतएव अत्यन्त अद्भुत है ॥ १० ॥

सौशील्यापादकत्वमाह--दोषानिति । पूर्वं प्रणयास्पदस्य दोषौघो गुणायते इत्युक्तम् । इह दोषसामान्यमेव गुणीकरोतीति विशेषः । आनन्दाधायकत्वमाह-सुखतामिति । पूर्णत्वापादकत्वमाह--आभोगीकुरुत इति । "आभोगः परिपूर्णते"-त्यमरः परिपूर्णता च सेवाशुश्रूषादिभिः । आभीलं कृच्छ्रम् । पारम्पर्यमेव पारम्परी षित्त्वान्ङीष् । अविनाशितापादकत्वमाह--पीयूषीकुरुत इति किसलययेति च । अत्र सुखत्वादिकं स्वनिष्ठम् ॥१०॥

तस्य क्षौतोऽपि शब्दो विरसयति रसश्च्योति गान्धर्वगीतं
केशग्रीयं च रूपं मलिनयतितरामप्सरश्चारुभावम् ।
आस्वादश्चुम्बितोत्थः कटुकयतितरामुच्चकैर्दिव्यभोगां
प्रेमा किं न ह्यनर्थं रचयति जगति प्रेयसः कैतवेन ॥११॥

प्रेमस्पद की छींक की भी आवाज रस प्रवाही गंधर्व गीत को नीरस बनाती है, बाल के अग्र भाग का भी रूप अप्सराओं के सौन्दर्य को फीका कर देता है, चुंबनोत्पन्न स्वाद दिव्य सुधा को भी कडुआ बना देता है; अहो यह प्रेय प्रियतम के बहाने क्या-क्या अनर्थ नहीं करता है ॥ ११ ॥

अर्वाङ्गोपत्यादिश्लोकद्वयेन प्रियगतदोषाणां गुणतापादनादिकमुक्तम्। अधुना प्रियगतगुणाभासैरन्यदीयगुणतिरस्करणेन सर्वातिशयिगुणाधायकत्वं प्रेम्ण आह-तस्येति। अतिलोकोत्तरसौस्वर्य-सौरूप्य-सौरस्याधायकत्वं फलितार्थः ॥११॥

तदीयवदनेऽमृतं वपुषि च स्मिते चामृतं
तनोति हसितेऽमृतं वचसि वीक्षणे चामृतम्।
इयं प्रणयिताऽमृतं हि निभृतं समाश्लेषणे
विहाय तु बुधैर्मुधा प्रियमलोडि दुग्धाम्बुधिः ॥१२॥

यह प्रेम प्रियतम के चेहरे में अमृत उत्पन्न कर रहा है, शरीर में और मुस्कान में अमृत फैला रहा है, हंसी में अमृत डुला रहा है, वाणी में और कटाक्षों में अमृत उँडेल रहा है, आलिंगन में तो पूर्ण अमृत कुम्भ ही उलट रहा है। अहो! बुध होकर भी देवताओं ने व्यर्थ ही प्रियतय को छोड़कर अमृतार्थ क्षीर सागर का मंथन किया ॥ १२ ॥

परममाधुर्याधायकत्वमाह--तदीयेति। इयं प्रणयिता अमृतं तनोतीति सर्वत्र सम्बन्धः। बुधैः पण्डितैर्देवैः। प्रियमिति। हरिमिति ध्वनिः। दुग्धाम्बुधिरित्युत्तरस्मात्। क्षीरसागरशायिनं प्रियतमं भगवन्तं सुलभं विहाय क्षीरसागरमन्थनं कृतवन्त इत्यहो मौढ्यमेव तेषामिति भावः। तथा च सौन्दर्य-सौकुमार्य-सौस्पर्श्य-सौरस्य-लावण्य-सौस्वर्य-सौगुण्याद्यतिलोकोत्तरानन्तगुणाधायकस्तथाविधानन्तगुणभाक् परमात्मस्वरूपः प्रेमैव वरणीय इति समुदिततात्पर्यार्थः ॥१२॥

इति प्रथमं प्रेमस्वरूपनिरूपणप्रकरणम्।

प्रेमाख्यानं किमपि परमं दुर्गमं द्युम्नमेतत्
प्राणन्यासन्यसनकुशलैरेव लभ्यं महद्भिः।
क्षीयन्ते वाङ्मनसवपुषां यत्कुसीदेषु नित्यं
सर्वाश्चानुक्षणविरचिताः सत्क्रियाः पुण्यभाजाम् ॥१३॥

यह प्रेम नाम का अद्भुत दुर्लभ परम धन वे ही महापुरुष प्राप्त कर सकते हैं जो अपने प्राणों को धरोहर रखने में कुशल हैं। कुशलता इस लिये कि उस धन के व्याज के रूप में पुण्यवान बन कर मन वाणी और शरीर से सम्पादित समस्त अविरत पुण्य क्रियाओं को चुकाना पड़ता है (और यह काम कुशल पुरुष ही कर सकता है) ॥ १३ ॥

प्रेम्णोऽलौकिकस्वरूपनिरूपणेन सह परमपुरुषार्थरूपत्वं पूर्वप्रकरणे प्रसिपादितम् संप्रति तत्प्राप्तिहेतुर्वक्तव्य इति द्वितीयं प्रकरणमारभ्यते। तत्र तस्य तिदुर्लभतां वदन्नेव स्वार्थत्यागस्यैव कर्त्तव्यतां स्वार्थत्यागभूमिकाभेदेनाह प्रेमाख्यानमित्यादिद्वादशभिः। तत्रेन्द्रियादिव्यापारसहितप्राणसमर्पणमाह–प्रेमेति किमप्यनिर्वचनीयं परमं सर्वोत्कृष्टं धनं द्युम्नं यथा न्यासनिक्षेपेण लोके लभ्यते तथैवेहापि। प्राण एव न्यासो निक्षेप्यं वस्तु तस्य न्यसनं निक्षेपणं तत्र कुशलैः। यत्कुसीदेषु यस्य प्रेमधनस्य गृहीतस्य देयेषु व्याजधनेषु नित्यं चानुक्षणं संपादिताः पुण्यभाजां सर्वाः सत्क्रियाः पुण्यकर्माणीति यावत्, क्षीयन्ते समाप्नुवन्ति ॥ १३ ॥

विद्या ह्यभ्यसनेन भूरिविभवो भाग्येन यत्नेन वा
राज्यं शत्रुनिबर्हणेन पदवी यज्ञेन पौरन्दरी।
क्षीराम्भोनिधिमन्थनेन च सुधा लोकैः सुसाधा हरेः
प्रेमैकं प्रतिलभ्यते निजशिरःपुष्पञ्जलिस्पर्शनैः ॥१४॥

अभ्यास से विद्या, भाग्य या यत्न से पुष्कल धन, शत्रु विजय से राज्य, यज्ञ से इन्द्र पदवी एवं क्षीर सागर मन्थन से अमृत लोगों के लिये

सुलभ है। किन्तु हरि का एक प्रेम ही ऐसा है कि अपने मस्तक रूपी पुष्प की पुष्पाञ्जलि समर्पण करने वाले ही प्राप्त करते हैं ॥ १४ ॥

न्यासस्तावत् स्वीयस्वाम्ये स्थिते भवति संप्रति स्वीयस्वाम्यविच्छेदि समर्पण-लक्षणभूमिकामाह विद्येत्यादि। प्रतिलभ्यते न तूत्पाद्यतेऽपि। स्पर्शनं समर्पणम्।' 'विश्राणनं वितरणं स्पर्शनम्' इत्यमरः स्पर्शनैरिति भावल्युटि बहुवचनं मुहुस्तद्भावनार्थम् कर्त्तृपदं वा ॥ १४ ॥

नो वेदाध्ययनेन नैव तपसा हैरण्यदानेन वा

नो यज्ञैरपि न श्रुतिस्मृतिगतैर्गृह्यादिधर्मैरुत।

नो योगेन हठेन चैव स हठात्प्रेमा परोऽयं विना

स्वीयास्तित्वविशारणेन शरणागत्याह्वयेनेयते ॥१५॥

वेदाध्ययन से नहीं, तप से नहीं, सुवर्णदान से नहीं, यज्ञों से नहीं श्रौत. स्मार्त्त. गृह्यादि धर्मों से नहीं एवं हठपूर्वक हठयोग से भी नहीं, यह परम प्रेम तो अपने अस्तित्व को मिटानारूपी शरणागति से प्राप्त होता है, अन्य से नहीं ॥ १५ ॥

पूर्वं विधिमुखेनोक्तं। संप्रति निषेधमुखेनोच्यते। किं च न्यासभूमिकायां स्वीयं सामर्थ्यं व्यज्यते। यथा लोके। पुष्पाञ्जलिभूमिकायामाराधकत्वसूचनेन दैन्याभिव्यञ्जनेऽपि दातृदेयभावसत्त्वान्न दैन्यस्योत्कृष्टावस्था। अथाधुना शरणा-गतिलक्षणां स्पष्टदैन्यभूमिकामाह—नो वेदेति। अत्रास्तित्वविशारणं नाम सामर्थ्य-भावनाविशारणमेव। पृथगस्तित्वविशारणभूमिका तु वक्ष्यते। विशारणेनेति। एतेन शॄधातुनिष्पन्नत्वसाम्याच्छरणपदस्य योगरूढत्वं सूचितम् ॥ १५ ॥

तस्मै राजपथं प्रयच्छति विधिर्गन्तुं पुरीमिच्छवे

प्रेम्णोऽयं सरलं निरोधरहितं योऽणोरणीयान्नरः।

तस्मै चैष महीयसेऽपि महतां दत्तेऽतिदभ्रं जडो
यस्मिन् हन्त पिपीलिकापि सहसा गन्तुं न वा कल्पते ॥१६॥

यह जड विधि ऐसी है कि प्रेम की नगरी में जाने के इच्छुक उस मनुष्य के लिये तो सीधा निर्निरोध राजपथ दे देती है जो अणु से भी छोटा है और जो महान से भी बड़ा है उसके लिये ऐसा छोटा मार्ग देती है जिस पर चींटी भी सहसा नहीं चल पाती। (प्रेम में बडप्पन मत रखो) ॥ १६ ॥

दैन्यमुक्तम् । अधुनाऽभिमानत्यागकर्त्तव्यतामाह-तस्मा इति । विधिर्नियतिः स्वभावः । स जड एव इत्त्यनारोपे आरोपस्यारोपः ॥ १६ ॥

धारा काचिदियं क्षुरस्य निशिता प्रेम्णः सृतिर्योगिना
तूलादप्यधिकं निजं लघयता केनापि सा पार्यते ।
तत्पादौ शकलीकरोति तरसा यः स्वार्थभारं वह-
न्नात्मानं कुरुते गुरुं भुवि यशोमानादिभोगाभिकः ॥१७॥

यह प्रेम पंथ छुरे की तीक्ष्ण धार है। इस पर से कोई ऐसा योगी ही पार निकल सकता है जो अपने को रुई से भी अधिक हलका बनावे। उसके पैरों को तो यह क्षण में टुकड़े-टुकड़े कर देता है जो यश-मान-भोगादि का लिप्सु होकर स्वार्थरूपी भार को ढोते हुए अपने को जगत में गुरु (भारी) बनाता है ॥ १७ ॥

अभिमानत्यागकर्त्तव्यतां श्रौतरूपकेण स्पष्टयन्नेव यशोमानादिरूपस्वार्थस्यापि परित्याज्यतामाह—धारेति "क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति" इतिश्रुतिः। लघयतेत्यभिमानपरित्यागकथनम्। लघिमाख्यसिद्धिर्योगिनां प्रसिद्धा। अत्र कर्मयोगी भक्तियोगी वा ग्राह्यः। स्वार्थभारं वहन्नात्मानं गुरुं भारभूतं करोतीति हेतूक्तिः। गुरुमित्यनेन महत्त्वाभिमानव्यक्तिः ॥ १७ ॥

यस्मिन् भीमदवानले तृणमिव स्वार्थः परिप्लुष्यति
यः स्वं तत्सुखतः करोति सुखिनं तद्दुःखतो दुःखिनम् ।
यस्माज्ज्ञानमुदेति निर्मलतमं प्रेमास्पदे प्रातिभं
स प्रेमा निरुपप्लवः सुविमलो धन्यैर्जनैर्लभ्यते ॥१८॥

भयंकर दावानल में तृण समान जिस (प्रेम) में स्वार्थ दग्ध हो जाता है, जो (प्रेम) प्रेमास्पद के सुख में प्रेमी को सुखी और दुःख में दुःखी बनाता है, जिससे प्रेमी को प्रेमास्पद के बारे में यथा समय प्रातिभ निर्मल ज्ञान होता है, अविचल निर्मल वह प्रेम तो धन्य पुरुषों को ही प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

छायाभावापत्त्यवस्थामाह—यस्मिन्निति । अत्र सर्वथा स्वार्थसमाप्तिः । पूर्वत्र स्वीयरक्षाभिलाषास्ति, धनदारादीच्छा तु नास्ति । प्रातिभमिति । कृच्छ्रे पतिते प्रियतमे स्वस्याऽजानतोऽप्यस्वास्थ्यम् । क्वचिदापदि पतितो मे प्रियतम इत्येवं प्रातिभज्ञानम् । एतच्च पुण्यफलमिति स्पष्टम् । निरुपप्लवः—अविचलो निर्बाधः अत्र प्रथमे पादे सर्वस्वार्थत्यागभूमिका । द्वितीये छायाभावापत्तिः तृतीये चित्तस्य परमनैर्मल्यम् । चतुर्थे सर्वबाधाप्रशमनम् ।। १८ ॥

यत् सर्वस्वमपि प्रदाय निजमप्यात्मानमक्लेशतो
न स्वं शंसति न प्रशंसयति नो वष्टि प्रशंसाश्रुतिम् ।
किं दत्तं किमदत्तमित्यपि शनैः स्वेनैव विस्मर्यते
स प्रेमा भुवि धन्यधन्यजनुषः कस्यापि संपद्यते ॥१९॥

जिसके कारण अपने सर्वस्व को और स्वयं को भी अनायास समर्पण कर न अपनी प्रशंसा करता है. न करवाता है, कोई करे तो सुनना भी नहीं चाहता और क्या दिया क्या नहीं दिया यह भी स्वयं भूल जाता है वैसा प्रेम तो भूतल में उसी को प्राप्त होता है जिसका जन्म भूरि-भूरि धन्य है ॥ १९ ॥

प्राणन्यासेत्यत्र निजशिरःपुष्पेत्यत्र च परमधैर्यावस्था प्रोक्ता। किन्तु तथाविधशब्दप्रयोगाद् यत्नसाध्या ध्वन्यते। संप्रति स्वार्थत्यागस्य साहजिकावस्थाभूमिकामाह-यत्सर्वस्वमिति। यद् = यस्मात्। अक्लेशत इति साहजिकत्वसूचनार्थम्। एतत्-फलविषया सर्वस्वदानप्रयुक्तं सर्वस्वदानप्रयोजकं चाभिमानं निरस्यन्निरभिमानभूमिकामाह-न स्वमिति। अभिमानोऽत्राहमुत्तमं कार्यं करोमीति भावना। उत्तमं कार्यंकरोमीत्यादिभावनाविरहेऽपि किंचित् करोमीति किंचित्कृतमिति च कर्त्रंभिमानो भवतीति तामपि निरस्यन् कर्तृत्वाभिमानोपमर्दभूमिकामाह-किं दत्तमिति ॥ १९॥

सर्वस्वं च निजं समर्प्य कुतुकादात्मानमप्यात्मना
यत्प्रत्येति निरस्तसारमखिलं तत्संनिधौ स्वार्पितम्।
तस्यैकैकरजःकणोऽपि च निजप्रत्यर्पितः संदधद्
यत्सारं प्रतिभात्यनन्तगुणितं तत्प्रेम संसेव्यताम् ॥२०॥

अपने सर्वस्व को और स्वयं को भी स्वयमेव खुशी-खुशी समर्पण कर जिस (प्रेम) के कारण ही प्रेमास्पद के सामने समर्पित सभी वस्तु निःसार सी स्वयं को लगती है एवं प्रेमास्पद का अपने (प्रेमी के) लिये प्रत्यर्पित एक-एक रजकण भी अनन्त गुण सारवान् प्रतीत होता है उस प्रेम का सम्पादन करो ॥ २० ॥

अक्लेशत इति क्लेशाभावमात्रमुक्तम्। अधुना समर्पणे प्रसादाख्यं कौतुकं स्वीयमहत्त्वप्रयोजकस्ववस्तुमहत्त्वाननुसन्धानं चाह-सर्वस्वमिति। प्रेमास्पदस्यातिलोकोत्तरमहामहिमभावप्रयोजकतया तदीयतुच्छतरवस्तुमहीयस्त्वमाह-तस्येति। तस्य-प्रेमास्पदस्य। रजःकणोऽपीत्यपिना तस्य तु का वार्त्तेति। अनन्तगुणितं सारं सन्दधत् प्रतिभातीत्यन्वयः। संदधदिति कणविशेषणम्॥ २०॥

यस्मिन्निर्मलसत्त्वभावभरिते न स्वार्थगन्धोऽपि वा
यद्वा निःसमयं स्वतः स्वयमपि स्वैरेण यत्रार्प्यते।

स्वीयास्तित्वमनाकुलं जगति वा यस्मिन्निराख्यायते
तं प्रमाणमशेषदोषरहितं सद्भिर्नुतं दध्महे ॥२१॥

निर्मल सत्त्वभाव परिपूर्ण जिस प्रेम में स्वार्थ की गंध भी नहीं होती, विना शर्त स्वतः अपने को भी स्वैरता से अर्पित किया जाता है, जिसमें क्लेश के विना अपना अस्तित्व मिटा दिया जाता है, समस्त दोषों से रहित, सत्पुरुषस्तुत उस प्रेम को हम ग्रहण करें ॥ २१ ॥

पूर्वोक्तमेव पिण्डीकृत्य सोत्कर्षमाह-यस्मिन्निति। स्वार्थाभासोऽपि नास्ति स्वार्थस्य का वार्त्तेत्यपिना सूच्यते। स्वस्य सत्त्वे स्वार्थस्य संभावना स्वस्यैवार्पणे का सापीत्याह-यद्वेति। निःसमयं = निष्प्रतिसंश्रवम्। समर्प्यमाणस्य स्वस्यास्तित्वमाशङ्क्याह-स्वीयेति। इत्थं च स्वीयसुखपर्यन्तसकलार्पणेन स्वार्थभावनात्यन्ताभावभूमिका निष्कर्षिता। तथा च स्वसमर्पणे स्वार्थसंभावनाविरहभूमिका स्वीयास्तित्वनिर्हरणे समर्पणसमर्प्यादिसकलभेदविधूननाद्विशुद्धप्रेमभूमिका। तदेव परमं स्थानं यत्र भेदः सर्वथोपमर्द्यत इति परमप्रेमायमिति ॥ २१ ॥

तस्मै पुत्रकलत्रमित्रभवनद्युम्नादि सर्वं निजं
निर्व्यामोहमशेषकायहृदयप्राणेन्द्रियादिक्रियाः।
यस्मिन् स्वं विनियुज्यते स्वयमिवाप्येकान्ततो जीवितं
प्रेमा सोऽयमगण्यपुण्यनिवहप्रत्युद्गतेः स्यात्फलम् ॥२२॥

प्रेमास्पद के निमित्त पुत्र, पत्नी, मित्र, भवन और धनादि सभी निज वस्तु; शरीर, इन्द्रिय, मन, प्रणादि की क्रिया; तथा पूर्णतया जीवन भी जिस प्रेम के कारण स्वयं विनियुक्त हो, वह प्रेम अनन्त पुण्य के प्रादुर्भाव का ही फल है ॥ २२ ॥

ननु स्वीयास्तित्वनिराख्याने किं कापि क्रिया न प्रवर्त्तत इत्याशङ्क्य तस्य स्वसत्त्वध्वंसानात्मकत्वात् सर्वथा स्वीयभानाभावानात्मकत्वाच्च नैवमित्याशयवान् तदीयफलभूमिकामाह—तस्मा इति। पुत्रादि बाह्यम्। शरीराद्यान्तरम्। अन्तर-

तस्माह यस्मिन् स्वमिति । स्वयमिव जीवितमपि विनियुज्यत इति योजना । तथा चैषु सर्वेष्वहंभावाद्यत्यन्तपरित्याग एव स्वीयास्तित्वस्य निराख्यानं विशारणं वेति भावः ॥ २२ ॥

रम्यं संसक्तसीमं पृथुलपरिधिकं प्रेमराज्यं यदेत-
त्तस्मिञ्शुल्कं प्रवेष्टुं सकलमपि निजं स्वार्थमाहुः समर्प्यम् ।
लुब्धोऽशुल्कं विविक्षुः कृतकुशलमतिः कोऽपि पर्यट्य रात्रिं
प्राप्तद्वारोऽभ्यपश्यद्विपुलितनयनो घट्टकुट्यां प्रभातम् ।२३।

यह राज्य रमणीय है, विशाल है, अपने राज्य से उसकी सीमा जुड़ी हुई है। पर इस प्रेम राज्य में प्रवेश करने के लिये प्रवेश शुल्क (टेक्स) के रूप में कहते हैं—समस्त स्वार्थ दे देना पड़ता है। कोई लोभी था। उसने सोचा कि विना शुल्क दिये ही अन्दर प्रवेश करूं। होशियार था। रात्रि भर दूसरे द्वार की खोज की। प्रातः उसे एक द्वार मिला। पर आँख फाड़कर देखता है कि यह वही द्वार है जहाँ शुल्क वसूल किया जाता है ॥ २३ ॥

एवं दशभिः श्लोकैः स्वार्थपरित्यागः सपरिकरो दर्शितः । तदपरित्यागिनामधुना प्रेमासंभवमाह-रम्यमिति द्वाभ्याम् । संसक्ताऽतिनिकटा सीमा यस्य तत् । "सीम-सीमे स्त्रियामुभे" इत्यमरः । स्वस्यार्थो धनमिति गम्यत्वाच्छुल्कत्वोपपत्तिः ॥२३॥

हठाद् भ्रश्यत्पादः पतति विधरन् स्वं सुनिपुणं
तथा पृष्ठे तिष्ठत्यधिकजवतः संजिगमिषुः ।
अनिध्यायन्नन्यः सकलमपरं कोऽपि सरलः
क्षणात् प्राप्यं प्राप्नोत्यहह जटिला प्रेमसरणिः ॥२४॥

वड़ी होशियारी से अपने को सम्हालने वाला पांव फिसलने से एकाएक गिर जाता है, अति शीघ्र आगे बढ़ने के इच्छुक पीछे रह जाता है।

एक है जो किसी पर ध्यान नहीं दे रहा, सीधा सादा, किन्तु क्षण में अपने गन्तव्य स्थान को प्राप्त हो रहा है। आश्चर्य, यह प्रेम मार्ग तो बड़ा जटिल है॥ २४॥

हठादिति। अतर्कितरूपेणेत्यर्थः। स्वं सुनिपुणं विधरन् भ्रश्यत्पादः सन् हठात्पततीति चित्रम्। स्वास्तित्वं रक्षन् प्रेममार्गे पतितो भवतीत्यर्थः। अतिशैघ्र्येण संजिगमिषुः संमुखं गन्तुमिच्छुः, गच्छन्निति गम्यते पृष्ठत एव तिष्ठतीत्यतिचित्रम्। प्राप्यं संजिगमिषुरित्यन्वयात्सकर्मकत्वेनानात्मनेपदित्वान्नेट्प्रतिषेधदीर्घौ। सकलमपरं स्वपरभेदमनिध्यायन्नपश्यन्नन्यः सरलः शीघ्रसंजिममिषादिरहितः क्षणात् प्राप्यं प्राप्नोतीत्यपि महच्चित्रम्। तथा च जटिला दुखावगाहा प्रेमसरणिः ॥२४॥

इति द्वितीयं स्वार्थाभावनिरूपण प्रकरणम्

यदीये संवेधेऽपरिमितसुखाऽऽपूर्णहृदयं
स्कुनीते पुर्णेन्दावुदयदमृतोदन्वदुपमम्।
अपाये शीर्येताप्यतिशयितसंतापदलितं
कटाक्षेषुः सोऽयं प्रियतमनियुक्तो विजयते ॥२५॥

जिसके वेधन से अपरिमित सुख की बाढ़ के कारण हृदय पूर्णिमा के दिन उठते हुए अमृत सागर के समान उछल पड़ता है, तथा जिसके निकालने पर संताप से दलित होकर जर्जरितसा हो जाता है प्रियतम से प्रयुक्त उस कटाक्ष बाण की विजय हो रही है॥ २५॥

अविनाभावी स्वार्थपरित्यागो भूमिकाभेदेन निरूपितः। इदानीं स्वरूपभूमिका उच्यन्ते। तत्र प्रथमं प्रियसंयोगेऽलौकिकोल्लासकरत्वं तद्वियोगेऽलौकिकसंतापकरत्वं चाह-यदिय इति। आपूर्णमापूर्यमाणम्। स्कुनीते = उत्प्लवते। अपायोऽपाकरणं, यदीय इत्यनुषङ्गः ॥ २५॥

कोऽयं प्रेममदो यतः प्रियतमं दृग्भ्यां निपीय क्षणं
चेतः संकसुकायतेऽहनि परे पातुं मुहूर्त्तावधि।

यामन्तं पुनरीक्षणाय विकलः खिन्ते तृतीयेऽहनि
निर्विण्णो जगतश्चतुर्थदिवसे दन्दग्धि रात्रिन्दिवम् ॥२६॥

यह प्रेम का नशा कैसा है ? प्रथम दिन तो प्रियतम को क्षण भर देखने से इच्छा पूर्ण होती है। किन्तु दूसरे दिन घड़ी भर देखते रहने के लिये तरस होती है, तीसरे दिन एक पहर ही पुनः पुनः देखने के लिये व्याकुलता होती है। चौथे दिन तक तो सारे जगत से विरक्त होकर प्रेमी रात-दिन बुरी तरह से संतप्त रहने लगता है ॥ २६ ॥

यथोक्तस्य प्रेम्णो वृद्धिप्रकारमाह-कोऽयमिति। क्षणदर्शनतृप्तिः, मुहूर्तावधीक्षणचाञ्चल्यं यामान्तदर्शनपरिखेदः रात्रिदिवदन्दहनमित्येवमुत्तरोत्तरोग्रता। संकसुकोऽस्थिरे इन्यमरः। शिष्टं स्पष्टम् ॥ २६ ॥

मन्ये न स्याद् गरलमधिकं प्रेमनाम्नो जगत्या–
मन्यत्किन्तु त्रिगुणगरलात्पात्यसौ मृत्युमृत्युः।
तापज्वालां शमयति सतां त्रायते सर्वलोकात्
सत्यं सत्यं हरति गरलं क्ष्वेडमत्युग्रमन्यत् ॥२७॥

मैं मानता हूं कि जगत में प्रेम नामक जहर से बढ़कर अन्य कोई जहर नहीं होगा किन्तु त्रिगुणात्मक जहर से यह बचाता है। यह मृत्यु को भी मारने वाला है। सत पुरुषों की ताप ज्वाला शान्त करता है। समस्त लोक से रक्षा करता है। सच है–एक उग्र जहर दूसरे जहर को मारता है ॥ २७ ॥

मादकरूपेण प्रेमा वर्णितः। संप्रति गरलरूपेण वर्णयन् दन्दग्धीति पूर्वोक्ताया अप्यधिकां दुरवस्थामिव दर्शयन्नपि दुःखन्तता नास्तीत्याह-मन्य इति ॥ २७ ॥

तिग्मास्याः कण्टका वा मृदुमृदुलतरा कौसुमी संततिर्वा
भीष्मो वा ग्रीष्मतापः सुरतरुनिकरप्रच्छदच्छायमाहो ।

क्ष्वेडोदग्रा भुजङ्गाः किमु किमु मृदुलाः कामलास्तन्तवो वा
नो विद्मो दुर्गमेऽस्मिन् पथि सुगमतमे विभ्रति प्रेमनाम ।।२८।।

यह मालूम नहीं पड़ता कि इस प्रेम नामक मार्ग में तीखे कांटे हैं या मृदुल फूल बिछे हैं; भयंकर ग्रीष्म ताप है या कल्पतरुओं की छाया है; भयानक विषैले सांप हैं या कमलनाल के तन्तु हैं। क्योंकि यह मार्ग अति दुर्गम भी मालूम पड़ता है, अति सुगम भी मालूम पड़ता है ।।२८।।

गरलमपि गरलान्तरहारित्वादुपादेयमित्युक्तम् । सुखकारित्वाच्चेत्यधुनोच्यते तिग्मास्या इति । स्थाणुर्वा पुरुषो वेति सामान्यधर्मात् संशयः प्रसिद्धः । न तु मेरुर्वा सर्षपो वेति कस्यचित्संशयः । इह तादृशसंशयोक्तिरलौकिकत्वादेव । प्रकृष्टाश्छदाः प्रच्छदाः । "दलं पर्णं छदः पुमानि"त्यमरः । तेषां छाया प्रच्छदच्छायम् । सेनासुराच्छायेति नपुंसकत्वम् ।।२८।।

जाड्यं किं कुरुते करोति किमु वा ज्ञानं परं निर्मलं
तापं तत् तनुते तनोति किमु वाऽऽनन्दं हि पौरन्दरम् ।
वह्निं सिञ्चति किं नु सिञ्चति परां पीयूषधारामुत
क्ष्वेडं वाऽमृतमेव वा न हि विदुः प्रेमस्वरूपं बुधाः ।।२९।।

प्रेम का स्वरूप क्या है यह अभी तक विद्वानों ने भी नहीं जान पाया है। संशय होता है कि—यह जडता बढ़ाता है या निर्मल उत्तम ज्ञान; यह संताप उत्पन्न करता है या इन्द्र सुख; आग बरसाता है या अमृत की धारा; वह स्वतः विष है या अमृत ।। २९ ।।

कण्टकाद्या मृत्तिकादिनिमग्ना न कार्यंकराः, एवं पुष्पादिकं मध्यदृषत्कादिकमिति संप्रति स्पष्टकार्यंकरत्वेन वर्णयति—जाड्यमिति । क्ष्वेडं वेति । पूर्वत्र क्ष्वेडोदग्रभुजङ्गस्यापि शान्तावस्थासंभवात् क्ष्वेडत्वेन वर्णनम् । न च मन्ये न स्यादगरलमधिकमित्यनेन गतार्थता । तत्र गरलामृतविकल्पविरहात् ।।२९।।

अग्निः किं नु स धन्वमध्यभवनो मैवं हिमं शीतलं
नूनं कण्टकसंचयोऽतिनिशितो मैवं ततिः कौसुमी ।
मन्ये क्ष्वेडमिदं वपुर्विशरणं मैवं सुधा जीवनी
प्रश्नः प्रेमणि धीमतां प्रतिवचश्चात्यद्भुतं विद्यते ॥३०॥

यह प्रेम मरु-भूमि में स्थित अग्नि है क्या ? नहीं तो, यह तो ठंढी बरफ है। क्या यह तीखे कांटों का ढेर है? राम-राम, क्या कहते हो? यह तो फूलों की सेज है। मैं मानता हूँ कि यह शरीर को जर्जरित करने वाला जहर है। हाय हाय ! ऐसा शब्द न कहो, यह तो जीवनदायी अमृत है। अहो ! प्रेम के बारे में प्रश्न और उसका उत्तर कैसा आश्चर्यकारी है ॥ ३० ॥

पूर्वं सुखवितायकत्वं दुःखवितायकत्वं च समतयोक्तम् । अधुना प्रश्नस्य किंचिदनुभवपूर्वकत्वान्निर्बलं दुःखवितायकत्वमापाद्योत्तरस्य सैद्धान्तिकत्वात् प्रबलं सुखवितायकत्वं वदन्नुत्कृष्टभूमिकामाह—अग्निरिति । "समानौ मरुधन्वानावि"-त्यमरः । अत्यद्भुतमिति । अत्यन्तविषमत्वादिति भावः ॥३०॥

जाड्यं तत् कुरुते न बुध्यति परान्नो वा निजान् यत्क्वचित्
तापं तत् तनुते करोति हृदयं यन्निर्मलं हेमवत् ।
वह्निं सिञ्चति तत् क्षणाद्दहति यत् पापान्यनन्तान्यपि
क्ष्वेडं तद् हरते हठादुगमयितुं प्राणान् प्रियं प्रेम यत् ॥३१॥

वह प्रेम जडता को उत्पन्न करता है, क्योंकि उससे अपना पराया यह ज्ञान नहीं रहता। वह ताप बढ़ता है। क्योंकि तपे सोने के समान उससे तप्त हृदय निर्मल हो जाता है। वह आग बरसाता है तभी तो क्षण भर में अनन्त पापों को भस्म कर डालता है। वह जहर का काम करता है। क्योंकि प्रिय के पास पहुँचाने के लिये बलात् प्राण हर लेता है ॥ ३१ ॥

दुःखवितायकताया अपि परमशुभपर्यवसायित्वात्तत्सादगुण्यदर्शिनीमुत्कृष्टतर-भूमिकामाह—जाड्यमिति । प्रियं गमयितुं प्राणान् हरत इति अन्वयः ।।३१।।

संत्यक्तोऽपि तिरस्कृतोऽपि च दशां कष्टां समापादितो-
ष्यापत्कूपनिपातितोऽपि विहितप्राणान्तघातोपि च ।
उद्यत्प्रेमसुधातरङ्गतरलप्रक्षालितात्मा निजं
नैव प्रेमपदास्पदं परमहो त्यक्त्वा वृणीतेऽपरम् ।।३२।।

प्रेमास्पद भले अपने को त्याग दें, भले तिरस्कार करें, कष्ट भले दें आपत् समुद्र में भले गिरा दें, भले प्राणान्त कारी चोट पहुँचायें फिर भी प्रेमी जिसकी आत्मा उछलते प्रेम तरंगों से धुल कर शुद्ध हो गयी, प्रेमास्पद को छोड़ कर किसी अन्य को नहीं स्वीकारता है ॥ ३२ ॥

व्याख्याता प्रेम्ण उत्कृष्टा उत्तरोत्तरावस्था । व्याख्यातं चापातप्रतीतप्रेम-दुःखस्य दुःखाभासत्वम् । संप्रति बाह्यदुःखस्यापि प्रेमाविरोधित्वाद दुःखाभासता-माह—संत्यक्तोऽपीति । अर्थात् प्रीणानः । प्राणानन्तयतीति तथाभूतो घातो यदुपरि विहितः स तथा । उद्यद्भिः प्रेमसुधातरङ्गैस्तरलं यथा स्यात्तथा प्रक्षालित आत्मा यस्य । प्रेमेति पदं यस्य तत् प्रेमैव तदास्पदं, पदनीयत्वाद्वा प्रेमपदम् । अहो केयं भूमिकेति भावः ।।३२।।

पुष्पे कण्टकवत् पदान्तरमितं तान्नामसंकीर्तने
भक्ते संगतशर्करीयकणवत् तद्वीक्षणेऽन्येक्षणम् ।
पीयूषे विषवत् परस्मृतिमितां तद्ध्यानमध्ये तथा
यत् प्रत्याययति स्वरूपमधुरं तत् प्रेम संदध्महे ।।३३।।

प्रियतम के नाम लेते समय बीच में कोई दूसरा नाम आ जाय तो ऐसा लगता है मानो फूलों के बीच में कांटा आ गया । उसके दर्शन के बीच दूसरा आ जाय तो लगता जैसे भात में छोटे कंकड़ । उसके ध्यान के

बीच में दूसरा आ जाय तो लगता—अमृत में जहर आया। यह सब जो कराता है, वस्तुतः जो स्वरूपतः मधुर है उस प्रेम का हम संधान करते हैं ॥ ३३ ॥

दुःखानामविचालकताकथनेन तत्प्रवणतां साधयित्वा संप्रति तदेकतानताभूमिकां वदन्नेकतानताविघटकस्य दुःखदत्वमाह—पुष्प इति। इतमागतम् ॥३३॥

भावः कोऽपि चकास्ति यत्र विरहक्लेशं समुद्भावयन्
भाविस्वीयवियोगचिन्तनभवं योगो वियोगायते।
सर्वं यत्र निभालयञ्जगदिदं प्रेयोमयं प्रेयसः
सांनिध्येन वियोग एव च सतां संयोगरूपायते ॥३४॥

प्रेम भाव बड़ा ही विलक्षण है जिससे योग (संयोग) ही भावी वियोग के चिन्तन से विरह क्लेश उत्पन्न कर वियोग रूप होता है, और वियोग ही पूरे जगत को प्रेयोमय दिखाकर प्रियतम के सांनिध्य से संयोगरूप हो जाता है ॥ ३४ ॥

अन्यनामान्येक्षणादौ क्षणभववियोगस्य दुःसहतामुक्त्वा तदुत्तरभूमिकां संयोगवियोगयोर्वैपरीत्यफलदामाह—भाव इति। भावः प्रेमा प्रेमोद्भवभावविशेषो वा योगः संयोगः स्वीयप्रियतमभाविवियोगचिन्तनभवविरहक्लेशं जनयन् वियोगायते। तथा वियोगोऽतिदुःसहः प्रियैकचिन्तनेन सर्वं जगत्प्रेयोमयं निभालयन् दर्शयन्। णिजन्ताण्णिच्। जगतः प्रेमोमयत्वेन प्रेयःसंनिध्यं संपाद्य संयोगरूपायते इति महच्चित्रम् ॥३४॥

यः स्वीयास्पदसंगमे निमिषतामापादयेद्वत्सरान्
यश्चैवातनुयात् क्षणान् प्रणयिनस्तद्विप्रयोगे युगान्।
दिव्यां संतनुते श्रियं नवनवामङ्गेषु यः प्रेयसः
प्रेमाणं तमुपासतामपहृतस्वर्गापवर्गश्रियम् ॥३५॥

जो (प्रेम) अपने आस्पद (प्रेमास्पद) के संगम में प्रेमी के वर्षों को क्षणरूप और वियोग में क्षणों को युग बना देता है तथा प्रियतम के अंगों में दिव्य नवनव शोभा उत्पन्न करता है स्वर्ग तथा अपवर्ग की श्री के अपहर्त्ता उस प्रेम की उपासना करो ॥ ३५ ॥

प्रकारान्तरेण संयोगवियोगयोरलौकिकावस्थां वर्णयन्नेव रसाभिव्यञ्जकता-विशेषमाह--य इति । यद्यपि पूर्वं क्षणीकुर्वत्कल्पानित्यादिकमुक्तम् । तथापि तत्र कालापरिच्छेद्यत्वसिद्धये तदुक्तम् । इह तु एकतानत्वसिद्धय इति न पौनरुक्त्यम् । स्वर्गापवर्गश्रियोऽपहर्त्ता ध्वंसयिता आपदामपहर्त्तेतिवच्चेत् कथं दिव्यश्रीसंतायकत्व-मिति विरोधाभासः । मोषणकर्त्ता यद्यपहर्त्ता तदा तस्य दातृत्वं कथमिति विरोधा-भासः । अपहरणं न्यक्करणमिति विरोधपरिहारः ॥३५॥

स्थितमपि सतामन्तःस्वान्तं रसं बहिरादधत्
स्थिरमपि तथाऽस्तोकं लोकाननुप्रसरन् सदा ।
अणुरपि जगद् व्याप्याशेषं स्वयं तदतिष्ठितं
जयति परमप्रेम क्षेमास्पदं जगतामिदम् ॥३६॥

समस्त जगत का क्षेमकारी यह परम प्रेम सोत्कर्ष विराज रहा है जो सन्तों के हृदयस्थ होने पर भी बाहर रस बरसा रहा है, अचल होने पर भी जगत में सदा फैलता रहता है, अणु होने पर भी जगत् को व्याप्त कर सबसे परे भी रहता है ॥ ३६ ॥

प्रेमस्वरूपं विरोधाभासैर्निरूपयति—स्थितमपीति । अतिष्ठितमिति । अत्यतिष्ट-द्दशाङ्गुलमिति श्रुतेः ॥३६॥

इति प्रेमस्वरूपनिरूपणं तृतीयं प्रकरणम् ॥

धाराभिः सततं निषिञ्चति रसं पीयूषमन्दाकिनी-
निष्यन्दे निरपाय्यपाङ्गयुगले रुद्धे क्षणं प्रेयसः।
अङ्गारान् प्रतिसंचरानलनिभः कोऽयं क्षरत्युल्बणान्
कोऽयं वाप्यभितः क्षिपत्यतिखरान् वज्रोपमांस्तोमरान् ॥३७॥

अमृतमन्दाकिनी प्रवाह जहाँ से निकला है वह प्रियतमकटाक्ष सतत धारा से रस सींच रहा था। किन्तु क्षण भर के लिये रुक गया तो पता नहीं प्रलयानल के नमान अंगारों को कौन बरसा रहा है, कौन वज्रोपम तीक्ष्ण तोमरों को सामने से फेंक रहा है ?॥ ३७॥

त्रिभिः प्रकरणैः प्रेम निरूपितम्। संप्रति विरहो निरूप्यते। यद्यपि उच्चैरेष कदापि गायतीत्यादिवक्ष्यमाणाः प्रेमभूमिका एव प्रेमस्वरूपनिरूपणोत्तरं निरूपणार्हाः। तथापि तदुत्तरं विरहप्रकारणोत्थापनेऽपकर्षप्रसङ्गेन सहृदयोद्वेजनं स्यात्। किं च प्रथमं प्रेम, ततो विरहवेदना, ततः प्रेमोत्कर्ष इत्येव क्रम इति मध्ये विरहनिरूपणमुचितं, वक्ष्यति च धन्योऽयं विरहानल इत्यादि। धाराभिरिति। पीयूषमन्दाकिनीनिष्यन्द इति विशेषणीयत्वादपाङ्गयुगलस्यामृतनिधानत्वं गम्यमिति धाराभिरित्युपपद्यते। पियूषमन्दाकिन्या निष्यन्दो यस्मात्; तां निष्यन्दयतीति वा तस्मिन्निरपायिनि अपाङ्गयुगले रसं निषिञ्चति सत्येव ताच्छील्ये शता। क्षणमात्रमपि रुद्धे प्रतिसंचरः प्रलस्तस्यानलस्तद्रुपमः। क्षरति-वर्षति। कोऽयं वेति प्रत्यक्षनिर्देशः अभितः उभयतः संमुखतो वा क्षिपति-प्रक्षिपति स्वोपरि वज्रोपमान् भयंकरांस्तोमरान् ॥ ३७॥

विद्रुह्यन् मलयाचलप्रभवतेऽभद्रं हि भद्रश्रिये
संधुन्वञ्छरदिन्दुबिम्बमधिकं निन्दन् सुधावारिधिम्।
मन्ये शीतलशीतलोऽपि सरसोऽप्येषोऽभिशापं गतः
प्रेमा संप्रति दन्दहीति विरहज्वालावलीभिः सतः ॥३८॥

मलयाचलोत्पन्न चन्दन का अभद्रता के साथ द्रोह करने से, शरत चन्द्रमा को अधिक झिटकारने से और अमृत सागर को अधिक नीचा दिखाने से इन सबसे अभिशप्त होकर यह प्रेम अति शीतल एवं सरस होने पर भी संप्रति वह ज्वालाओं से सत्पुरुषों को बुरी तरह जलाने लगा है, ऐसा मुझे लगता है ॥ ३८ ॥

कोऽयमिति प्रश्ने ज्ञातमधुनेत्याशयेन प्रेमाणमेव पुरः स्थापयन् न केवलमङ्गारवर्षणादिकमेव, किन्त्वत्युग्रदाहोऽपि क्रियत इत्याह--विद्रुह्यन्निति । अभद्रमिति क्रियाविशेषणम् । भद्रश्रिये-चन्दनाय । न्यक्करणमेव तद्द्रोहः एवमुत्तरत्र । शीतलादपि शीतलः । विद्रोहादितस्तेभ्योऽभिशापं प्राप्तः प्रेमा दन्दहीति । कुत्सितं दहति ॥ ३८ ॥

निर्मथ्नन्नङ्गजातं शरशयनविधां प्रापयन् रोमकूपा-
नालुञ्चन्मांसपूगं भृशमुपदलयन्निन्द्रियाणां समूहम् ।
चित्तं पिंषन्नृशंसं सकलमपि जगच्छून्यमापादयन् स्वा-
नाकृष्यन् प्राणसारान् प्रियतमविरहः कोऽप्यहो दुःसहोऽयम् ।३९।

अंगों को मथ रहा है, रोमकूपों को शरशयन की दशा प्राप्त करा रहा है, मांस को नोच रहा है, इन्द्रियों को कूट रहा है, प्राणों को खींच रहा है; अहो यह विलक्षण प्रियतम विरह असह्य है, अति पीड़ादायी है ॥ ३९ ॥

न दन्दहनमात्रं किन्त्वन्यदपि वह्निरित्याह-निर्मथ्नन्निति । स्पष्टम् ॥३९॥

हन्तायं हिमदीधितिर्विसृजति स्वीयैः स्फुलिङ्गान् करै-
स्तैलं प्रक्वथितं हिमाद्रितनया भागीरथी पाथसा ।
तेजोऽपं गमयत्ययं मलयजः स्वीयान्निघृष्टाद्रसात्
सर्वव्यापिनिजप्रभावविरहज्वालैवमुज्जृम्भते ॥४०॥

यह विरह ज्वाला इस प्रकार फैल रही है कि जिसका प्रभाव समस्त जगत में फैल रहा है, जिससे कि शीतल किरण चन्द्रमा अपनी किरणों से चिनगारियां छोड़ने लगा है; हिम पर्वत की पुत्री गंगा अपने जल से खौलता तेल छोड़ने लगी है; मलय चंदत अपने रस से तेजाब निकालने लगा है ॥ ४० ॥

विरहस्य पीडाकरत्वमभिधाय, तत्सम्बन्धादन्येषामपि, सुखकारिणां पीडाकरत्वमाह –हन्तेति । विरहज्वाला चन्द्रादिष्वपि प्रसृता येन ततोऽपि स्फुलिङ्गादिप्रसरणमिति तात्पर्यम् । हिमा शीतला दीधितिर्यस्य स स्फुलिङ्गान् विसृजति । हिमस्याद्रेस्तनयया प्रक्वथितं तैलं विसृज्यते । तेजोऽपमिति । "ऋक्पूरब्धूरि"त्यप्रत्ययान्तः ॥ ४० ॥

यस्यां कण्टकपुञ्ज एव मृदुला शय्याङ्गनिर्वापणी
ग्राव्रास्फालनमेव सर्वेवपुषः स्यादङ्गसंवाहनम् ।
आलिश्चाम्बरचुम्बिधूममलिनज्वालैव दावोद्भवा
जीवातुर्विषमेव केयमतुला प्रेमव्यथा देहिनाम् ॥४१॥

जिस (प्रेम व्यथा) में कांटों का पुंज ही आराम देह मुलायम शय्या है, पत्थरों से कूटना ही शरीर संवाहन (सेवा, शरीर दबाना) है, गगनचुम्बी धुएं से मलिन दावानल की ज्वाला ही प्रेमी की सखी बन जाती है, जहर ही जीवन का औषध है, यह अनुपम प्रेम व्यथा अति आश्चर्यकारी है ॥ ४१ ॥

विरहशोके उरस्ताडनादिकं प्रसिद्धम् । अतिसीमत्वादाह–यस्यामिति अङ्गानि निर्वापयति निर्वाणसुखं प्रापयतीति तथा । ग्राव्णा आस्फालनमाघातः । आलिः = सखी । जीवातुर्जीवनौषधम् ॥ ४१ ॥

अग्निः कोऽपि हृदि ज्वलत्यविरतं प्रेयःस्मृतिप्रोद्भवो
धूमस्तस्य विनिःसरत्यतिघनः प्रत्यङ्गरन्ध्रं बहिः ।

व्याप्तं तेन जगत् समं न तु पुनः पश्यत्यमुं लौकिको
भस्मीभूतहृदन्य एव तमिमं कश्चिज्जनो वीक्षते ॥४२॥

प्रियतम के स्मरण से उत्पन्न कोई यह अग्नि हृदय में सतत जल रही है। रग-रग से उसका घना धुँआ बाहर निकल कर जगत् में व्याप्त हो रहा है। पर उसको कोई देख नहीं पाता। कोई असाधारण ही उसको देखता है जिसका हृदय उसी आग में भस्म हो गया है ॥ ४२ ॥

यद्यदपि पश्यति, यत्र यत्रापि मनः संचरति तत्र तत्रैवानुगच्छति काचन वेदना यया सकलमपि नीरसमिव शून्यमिव व्यथैवानुभवपथमधिरोहति विरहिण इति धूमितत्वं, तामिमां विरहस्य व्यापकभूमिकामाह—अग्निरिति ॥ ४२ ॥

बृंहद्व्याकुलभावदावदहनज्वालावलीढात्मनः
प्रत्याशापवनाभिघातजवनभ्राम्यन्मनोभस्मना ।
शङ्के व्याप्तमिदं जगत् प्रियतमच्छायाङ्कमन्विच्छता
येनर्क्षेषु विधौ रवौ जलनिधौ सर्वेष्वसौ शुक्लिमा ॥४३॥

फैलती हुई व्याकुलता रूपी दावानल की लपटों से जले हुए और आशारूपी पवन के आघात से त्वरित उड़ते हुए प्रेमी के मन के भस्म से जो प्रियतम की छाया की खोज में लगा है, ऐसी आशंका है कि यह जगत व्याप्त हो गया। तभी तो नक्षत्रों में, चन्द्रमा में, सूर्य में, तथा अन्यत्र भी उस सफेद भस्म के कारण सफेदी दीख रही है ॥ ४३ ॥

पूर्वोक्तभूमिकाया एव परिपुष्टावस्थामाह–बृंहदिति। बृंहन् वर्धमानो महान् वा यो व्याकुलभावः स एव दावदहनस्तदीयज्वालावलीभिरवलीढ आत्मा यस्य अग्निजिह्वाप्रसिद्धेरवलीढत्वोक्तिः। प्रत्याशा पश्येयं प्रियतमं लभेयेत्यादिः। आत्मनः भस्मनेति सम्बन्धः। अन्विच्छतेति। एतेन भस्यन्यपि चेतनेति द्योत्यते। नक्षत्रादिषु तादृशभस्मव्याप्त्या शुक्लिमेत्युत्प्रेक्ष्यते। प्रियतमस्तत्रतत्रेति निरन्तर-चिन्तनमेव मनोभ्रमणम् ॥ ४३ ॥

इक्षुः स्वं मधुरं व्यमुञ्चत रसं खारं स्वकं सागरो
निम्बः स्वं कटुकं रसं समजहादम्लं रसं तिन्तिणी ।
तिक्तं स्वं मरिचं कषायमजहात् स्वीयं हरीतक्यपि
सर्वं नीरसतामगाद् विरहिणः खेदेन खिन्नं जगत् ॥४४॥

ईख ने अपना मधुर रस छोड़ दिया, समुद्र ने खारा रस, नीम ने कडुआ रस, इमली ने खट्टा रस, मिरची ने तीखा रस और हरड ने कषाय रस छोड़ दिया। विरही के खेद से खिन्न हुआ सारा जगत् नीरस हो गया ॥ ४४ ॥

उक्तविरहावस्थाफलभूमिकामाह—इक्षुरिति । प्रियतमैकचित्तस्य नेक्ष्वादिमधुररसादिप्रतीतिर्भवतीति लोकप्रसिद्धम् ॥ ४४ ॥

क्ष्वेडत्वं गरलादगादमृतता पीयूषसारादगा-
दुष्णत्वं तपनादगाद् हिमनिधेः शैत्यं व्यपागादगात् ।
मासृण्यं निरगान्मृगाक्षियुगलात्क्रौर्यं मृगारीक्षणा-
न्निःस्वाभाव्यमभूदहो विरहिणस्तापानुतप्तं जगत् ॥४५॥

जहर से जहरपना चला गया, अमृत के अमृतपना निकल गया, सूर्य से उष्णता समाप्त हो गयी, हिमाचल से शैत्य दूर हो गया, मृगनयनों से मसृणता नष्ट हुई, सिंह के नयनों से क्रूरता गयी, विरही के ताप से जल कर जगत् स्वभावशून्य हो गया ॥ ४५ ॥

क्ष्वेडत्वमिति तत एव मीरादयः क्ष्वेडं पपुरित्याद्युदाहरणं द्रष्टव्यम् ॥४५॥

भावोऽभाव इति द्वयी हि भुवनेऽवस्था पदार्थाश्रिता
तत्राहुः प्रथमं प्रियस्य मिलनं तद्विप्रयोगं परम् ।

आद्या स्यात्सुखितस्य सर्वजगतः स्यादन्तिमा क्लिश्नतः
एतच्छास्त्रमुदीरितं विरहिणो यत्रैव षड्दर्शनम् ।।४६।।

पदार्थों की दो ही अवस्था है—भाव और अभाव। उनमें प्रिय मिलन ही भाव है और प्रिय वियोग ही अभाव है प्रथम सुखी जगत की है और द्वितीय दुःखी जगत की। यही विरहियों का शास्त्र है। जहां छः दर्शन समाविष्ट होते हैं ॥ ४६ ॥

भावइति। प्रियलाभे सर्वलाभः इति सर्वसत्त्वम्। प्रियविरहे सर्वं शून्यमिति सामानाधिकरण्येतावस्थाद्वयी। आद्या स्यात्सुखितस्येत्याद्यग्रिमश्लोके स्पष्टम् ।।४६।।

चैतन्यं हि समस्तवस्तुनियतं नास्यास्त्यभावः क्वचित्
सर्वं खल्विदमाह यच्छ्रुतिवचो ब्रह्मेति विस्पष्टतः।
तस्मादेव स पृच्छति द्रुमलतापाषाणखण्डादिकान्
क्व प्रेयान् हि ममेति हन्त विरही निःशङ्कभावं कृती ।।४७।।

सम्पूर्ण जगत में चैतन्य व्याप्त है। उसका कहीं भी अभाव नहीं है। श्रुति भी स्पष्ट कहती है—'सब ब्रह्म है।' यही कारण है कि विरही वृक्ष, लता, शिलाखण्ड आदि सबसे निशंक पूछता है—'मेरा प्यारा कहां है' ॥ ४७ ॥

चैतन्यमिति। इत्थं ह्येव पुरा प्रसन्नसलिलामित्यादिवक्ष्यमाणोदाहरणमिहापि तुल्यप्रायम्। हन्तेति साकूतम्। दार्शनिकदृष्ट्या नरादिवत्तदभावात् ।।४७।।

यो यः स्याद्भुवने प्रसन्नवदनो नूनं प्रियः संगत-
स्तेनेत्येव परात्परो विरहिणां सिद्धान्तसारः सताम्।
इत्थं ह्येव पुरा प्रसन्नसलिलां गोप्यो हरिं सूर्यजां
पृच्छन्त्येणवधूर्विलोलनयनाः पुष्पस्मिता वल्लिकाः ।।४८।।

संसार में जो भी प्रसन्न वदन हो उसका प्रिय मिलन अवश्य हुआ यही विरही संत का परम सिद्धान्त सार है इसी लिये तो गोपियां प्रसन्न सलिला यमुना नदी से, चंचलनयना हरिणियों से एवं पुष्पस्मिता लाताओं से हरि को पूछती रही ॥ ४८ ॥

यो य इति । प्रसन्नवदनत्वं प्रसन्नत्वेन प्रतीयमानत्वमेव । तत्र प्रसन्नसलिलत्वं विलोलनयनत्वं पुष्पस्मितत्वं च लिङ्गम् ॥ ४८ ॥

इति चतुर्थं महाविरहनिरूपणप्रकरणम्

जगत्संज्ञां क्षिण्वंस्त्रिगुणमवकृण्वन् प्रणयिना
निजैक्यं कुर्वाणं विदधदपि निर्वाणनिलयम् ।
व्यपेक्षां वेदान्तश्रवणमननादेरपनुदन्
जयत्येषोऽनङ्कः प्रणयिविरहोऽसंकरपथः ॥४९॥

जगत का भान समाप्त करता है, सत्त्वादि तीन गुणों को काट देता है, प्रियतम के साथ एकता सम्पादन मोक्षस्थिति उत्पन्न करता है, वेदान्त शास्त्र के श्रवण मननादि की अपेक्षा समाप्त करता है, लांछनादि दोषरहित हिंसादिसांकार्यरहित इस प्रियतमविरह की जय हो ॥४९॥

पूर्वेण प्रकरणेनोग्ररूपत्वं विरहस्य दर्शितम् । संप्रति तस्य गरिमाणं दर्शयति—जगदिति । जगत्संज्ञां = जगद्भानम् सर्वथाऽप्रतीतिर्न भवतीत्यतः क्षिण्वन्निति । गुणातीतत्वमाह—त्रिगुणमवकृण्वन्निति । प्रणयिना = प्रणयविषयेण सह निजैक्यं स्वस्यैक्यं कुर्वन्तं निर्वाणनिलयं मोक्षस्थितिं विदधच्च । अत एव व्यपेक्षामपनुदन्निति । अनङ्कः कलङ्करहितः । असंकरेति । अन्यत्र तु "स्वल्पः संकरः सपरिहरः सप्रत्यवमर्षः" इति पञ्चशिखाचार्यवचनाद्धिंसादिसांकार्यम् । नात्र तदिति ॥ ४९ ॥

स प्रेमाऽमरजङ्गमोपमवपुर्नित्योऽपि न द्योतते
व्युत्तिष्ठद्विरहानलाविनिकृतो यः सामरस्यान्वितः ।

सोऽयं राजति परिजातसुभगः सौन्दर्यसंदानितो
यो धत्ते विरहातपेन दलितः शश्वन्नवान् पल्लवान् ।।५०।।

वह प्रेम देवों के समान अमर होने पर भी शोभा नहीं पाता जो उठते हुए विरहाग्नि से दग्ध नहीं होता, हमेशा एकरस रहता है। परिजात के समान सुभग सौन्दर्य युक्त वही प्रेम अति मनोहर होता है जो विरह के आतप से झड़ कर हमेशा नये-नये कोमल पल्लवों को धारण करता है ॥ ५० ॥

ननु जगत्संज्ञां क्षिण्वन्नित्यादि प्रेम्णैव चरितार्थं किं विरहेणेत्यतस्तदावश्यकत्वमाह—स प्रेमेति। अमरजङ्गम इन्द्रादिः। पारिजाते स्थावरत्वव्यक्त्यर्थमेवमुक्तिः। अमरेत्युत्कर्षसूचनाय प्रेमसामान्यस्य। न द्योतते, कुतः ? सामरस्यान्वितः। एकरस इत्यर्थः। कथं तर्ह्यनेकरसत्वमिति। उच्यते—व्युत्तिष्ठदिति। व्युत्तिष्ठता विरहानलेनानेकरसत्वं तेनायमविनिकृतः अनाक्रान्तः। पारिजातेति। अमरस्थावरेत्यर्थः। नवानिति। अयंभावः—यथा जङ्गमशरीरे केशादय एकरूपेण वर्त्तन्तेऽतो न नवनवत्वं तथा विरहास्पर्शिप्रेम्णोऽपि। यथा तु तरुगुल्मादिस्थावरशरीरे पूर्वपत्रशातनपूर्वकं नवीनपल्लवोद्भवेन नित्यनूतनत्वं तथा सविरह प्रेम्णोऽपीति। अत्र जङ्गमस्थावरावुपमे अमरत्वं संभवात् ॥ ५० ॥

धन्योऽयं विरहानलो ज्वलयति प्रेम्णोऽखिलं कल्मषं
यन्नित्यव्यवहारगच्युतिभवद्वेषाभिमानादिजम् ।
उद्यन्नेष यथा यथा प्रतपति भ्राजत्यपीदं तथा
व्यक्तं त्वेषति दग्धसर्वकलुषं तप्यद्धि जाम्बूनदम् ।।५१।।

धन्य है यह विराहाग्नि जो प्रेम सम्बन्धी सभी दोषों को जला डालती है, नित्य के व्यवहार में होने वाली त्रुटियों से उत्पन्न द्वेष अभिमानादि से जो (दोष) होते हैं। यह विरहाग्नि उठकर ज्यों-ज्यों तपाती है त्यों-त्यों

यह प्रेम भी निखरता है, जैसे तपता हुआ सोना कलुष रहित होकर निखरने लगता है ॥ ५१ ॥

विरहस्य नित्यनूतनत्वापादकत्वमुक्त्वा दोषनाशनेनापकर्षहारकत्वमधुनोच्यते धन्य इति। यत् कल्मषं नित्यव्यवहारमध्यभवा या च्युतिरपराधो न्यूनत्वादिकं वा तदुद्भवद्वेषाभिमानादिप्रयुक्तम्। द्वेषेति लौकिकाभिप्रायं दृष्टान्ताय। लोके हि प्रेमवतोः परस्परकादाचित्कद्वेषादयो विरहोत्तरं नश्यन्तीति प्रसिद्धम्। परमात्मविषयेऽभिमानादि। "तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः। प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयते" इत्यादिरासाध्याये। त्वेषति–दीप्यते। दग्धेति। कथं कलुषदाहः ? जाम्बूनदं सुवर्णं तप्तं निष्कलुषं त्वेषति ॥५१॥

भैषज्यं किमपीदमद्भुततमं प्रेमक्षुधावर्धनं
शुभ्रं किंचन कान्तमञ्जनमिदं स्नेहाक्ष्यभिव्यञ्जनम्।
हार्दप्राणनिरर्गलप्रसरकृत् काचिच्च कस्तूरिका
कोऽपि द्वेषविषापहो मनुरयं प्रेयोवियोगः सताम् ॥५२॥

यह प्रियतम वियोग ऐसी अद्भुत दवा है जो प्रेम की भूख को बढ़ाती है, ऐसा एक सुन्दर अंजन है जो स्नेह रूपी आँख की जोत बढ़ाती है, ऐसी कस्तूरी जो प्रेमात्मक प्राणों का विना बाधा गमनागमन कराती है, ऐसा मन्त्र है जो द्वेषरूपी विष को नष्ट करता है ॥ ५२ ॥

स प्रेमेत्यत्र विरहस्य प्रेमोत्कर्षे सहायकत्वमात्रमुक्तम्। संप्रति साक्षादुत्कर्षकारित्वमाह–भैषज्यमिति प्रेमैव क्षुधा, स्नेह एवाक्षिणी, "प्रेमा ना प्रियता हार्दमि"त्यमराद् हार्दं प्रेम तदेव प्राण इति योजना। दृष्टान्तपक्षे प्रेमसदृशी क्षुधा, स्नेहयुक्ते अक्षिणी, हृदि भवः प्राण इति। हिमालययात्रायां प्राणसंचारावरोधे कस्तूरिकाप्रयोगः प्रसिद्धः ॥ ५२ ॥

संतप्तां हृदयावनीं प्रणयिनस्तद्विप्रयोगोष्मणा
सिञ्चन्त्या नयनाम्बुवाहनिवहप्रस्यन्दिधाराततेः।

शुष्यन्त्या अपि तत्र दैववशतः स्रस्तैर्लवैः पञ्चषै-
र्धन्येयं क्षणिकैः प्रणन्दति रसा रक्षोभिरक्षोभिता ।।५३।।

प्रियतम के वियोग रूपी ऊमस से हृदय भूमि संतप्त हो गयी है। नयन रूपी बादलों से प्रवाहित धाराओं की झडी उसे सींच रही है। वे धारायें उसी हृदय भूमि में सूख रही हैं। फिर भी दैववशात् बाहर की ओर उछल कर उसकी पांच-छः बूंदें पृथिवी पर पड़ जाती हैं तो यह पृथिवी धन्य हो जाती है। राक्षसों से उस समय वह क्षुब्ध नहीं होती (कारण प्रेमी के प्रेम से राक्षस निहन्ता भगवान् आते हैं। और पृथिवी आनन्दित होती है)॥ ५ ॥

विरहगरिमा चतुर्भिरुक्तः। संप्रति विरहकार्याश्रुप्रभृतीनां गरिमप्रदर्शनेनापि तद्गरिमोच्यते संयत्तायामित्यादिचतुर्भिः। तद्विप्रयोगेति। प्रेमास्पदविप्रयोगेत्यर्थः। प्रेमास्पदविप्रयोगोष्मणा संतप्तां हृदयभूमिं सिञ्चन्त्याः प्रणयिनो नयनाम्बुधारातते स्तत्रैव हृदये शुष्यन्त्या अपि सकाशाद् दैववशतः स्रस्तैः प्रच्युतैः पञ्चषैर्लवैः कणैरियं पृथिवी धन्या सतीति योजना। सिञ्चन्त्या इत्यादिपञ्चम्यन्तत्रयम्। क्षणिकैरिति। स्थिरत्वे का वार्त्तेति भावः। रसा=पृथिवी। कुतश्च प्रणन्दति? तदाह—रक्षोभिः। राक्षसैस्तत्तद्दशैर्दुराचारैराधुनिकैरप्यक्षोभ्यमाणा। अश्रुकणानामनन्तपुण्यवाहित्वात्। अन्यथाऽद्यावधि, पृथिवी रसातलमेव यायात्। किं च प्रणयिनां प्रेम्णैव भगवदवतार इति प्रणयाश्रुकणसान्त्विता पृथिवी न क्षुभ्नातीत्यर्थः॥ ५३ ॥

ये नाम ह्यनुलोचनानवरतक्रीडत्प्रियैकाकृते-
रामीलन्नयनाम्बुवाहनिपतद्धाराकिरत्सीकराः ।
मन्ये नो महिमानमद्भुततमं वक्तुं सहस्रानन-
स्तेषामेकतमस्य वा प्रभुरयं वर्षैः सहस्रैरपि ।।५४।।

आँखों के सामने निरन्तर प्रियतम की ही मूर्ति नाच रही है। आंखें

थोड़ी बंद हैं। मेघ समान उन आंखों से अश्रुधारा पड़ रही है। उससे छटके हुए जो कण हैं उनमें से एक की भी महिमा सहस्रमुख शेष भगवान् भी हजारों वर्षों में भी नहीं कह पायेंगे ऐसी मेरी मान्यता है ॥५४॥

एवंविधाश्रुकणानां कीदृशो महिमा, कियांश्च स येन पृथिव्यपि धन्या भवतीति जिज्ञासमानं प्रत्यनिर्वचनीयतया समाधत्ते–ये नामेति। ये नाम सीकरा इति सम्बन्धः। लोचनयोः समीपमनुलोचनम्। सामीप्यमिहाभिमुख्यम्। अनुलोचनमनवरतं क्रीडन्ती प्रियस्यैव केवलस्याकृतिर्यस्य स तथा तस्य पुरुषस्य। अतिप्रेमवतः सततं प्रेमास्पदरूपं पुरतो नृत्यतीवेति प्रसिद्धम्। आमीलदिति। आमीलन्ती ईषन्मीलन्ती नयेन एवाम्बुवाहो मेघस्तस्मान्निपतन्ती या धारा अश्रुधारास्तस्याः किरन्त' विक्षिपन्तो ये सीकारा अम्बुकणास्ते तथा तेषामेकतमस्यापि सहस्रैर्वर्षैरपि सहस्रानन: शेषभगवानपीति। अन्यत् स्पष्टम् ॥५४॥

उद्गच्छद्विरहानलप्रतिभयज्वालावलीदन्दहत्-
सर्वाङ्गस्य मुखोत्थहेतिवचसा न स्यात्किमेवोदितम्।
तस्यैवाभिमिरीक्षितुः प्रियतमं प्रेमाश्रुधारालवे
निःशेषं जगतस्त्रयस्य निहितं सारं वयं मन्महे ॥५५॥

प्रज्वलित विरहाग्नि की भयंकर ज्वाला मालाओं से जिसके अंग प्रत्यंग बुरी तरह जल रहे हैं उसके मुंह से निकले 'अहा' इस वचन से क्या नहीं कहा। वही जब प्रियतम को कातर दृष्टि से देखने लगता है और आंख से प्रेमाश्रू छोड़ता है तो उस प्रेमाश्रु के एक कण में ही तीनों जगत का सार निहित रहता है ऐसा मैं मानता हूं ॥ ५५ ॥

दीनवचनस्य, प्रेमाश्रुकणस्य च महिमेवोच्यते–उदित्यादि। विरहदग्धस्य मुखोत्थितेन दैन्यभरितेन 'हा' इतिवचनेन किं न कथितम्?। सर्वमेव जगत् शून्यं पश्यतः सारतया प्रियतमं च विजानतस्तस्य 'हा' शब्दस्तादृशार्थपरिग्रहपूर्वकं प्रियतमप्राप्तीच्छां द्योतयति। तावतैव सर्वरहस्यकथनं सम्पद्यते। जगतो

मिथ्यात्वात् परमेश्वरस्यैव सत्यत्वात्तत्प्राप्तेरेव परमपुरुषार्थत्वाच्च। इदमेव भङ्ग्यन्तरेणाशाडम्बरेत्याद्युत्तरश्लोके वक्ष्यति। एतेन तस्यैवाभिनिरीक्षितुरित्युत्तरार्धमपि व्याख्यातम्। प्रियतममभि = प्रियतमं प्रति तेन तत्प्रत्यक्षाप्रत्यक्षोभयस्थललाभः ॥ ५५ ॥

चिन्ताशाणनिघर्षणातिनिशितप्रेयोवियोगासिना
निर्लूने ममतादिपाशवलये देहात्मसन्दानिनि।
निर्यात्येष गवेषयन् प्रियतमं स्वैरं स्वमात्मा दिवं
शून्यत्वं भजते कलेवरमिदं निश्चेष्टसर्वेन्द्रियम् ॥५६॥

प्रिय चिन्तन रूपी शान पर घिसने से तीक्ष्ण धारवाली तलवार से आत्मा की देह से बांधने वाले ममतादि पाश के कटने से प्रेमी की यह आत्मा स्वछंद होकर अपने प्रिय को ढूंढ़ती हुई स्वर्ग की ओर जा रही है। इसका शरीर शून्य हो रहा है, इन्द्रियां निश्चेष्ट हो रही हैं ॥ ५६ ॥

विरहमूर्च्छामाह—चिन्तेति। नन्वश्रुप्रभृतेरिव निःश्वासस्य महिमा 'आशाडम्बरे' त्युत्तरश्लोके वर्णनीय इति स एव क्रमसंगतः प्रथमं पठनीयः। मैवम्। प्रथमं द्युगमनं ततस्तारान्तरालादावुत्पतनमिति यथाक्रममस्तु। ननु दिवमित्यनेन स्वर्गाभिव्यक्तेः पश्चादयं पठनीय इति चेन्न। तारान्तरालादेरपि दिव्यत्वलाभार्थत्वात्। चिन्तैव शाणस्तत्र निघर्षणादतिनिशितेन विरहासिना। आत्मानं देहेन सह सन्दानयति बध्नातीति तथाभूते ममतादिपाशे कर्त्तिते सति बन्धनविरहादुन्मुक्तसुपर्णवदेव स्वं प्रियतमं गवेषयन्नेष आत्मा दिवं याति। अत एव शरीरं मृतवदेव शून्यमिव निश्चेष्टेन्द्रियं भवति ॥५६॥

आशाडम्बरनिर्मलाम्बरतले तारान्तरालेष्वभि-
व्याधुन्वद्विरहप्रकम्पनपराघातोत्पतच्चेतसः।
विश्वं वीक्ष्य निवर्तितुः प्रविसरन्निःश्वासतानस्य कः
स्रष्टुर्निश्वसितार्थतथ्यविदपि ह्यर्थं प्रभुर्वेदितुम् ॥५७॥

आशाओं की उड़ान में बैठ कर निर्मल गगन तल में तारों के अन्तराल में विरह रूपी झंझावात के आघात से जिसका चित्त प्रियतम को देखने के लिये उड़ता या और सारे विश्व को देखकर निराश सा लौटा। उस प्रेमी के दीर्घ निःश्वास का अर्थ कौन जान सकता है. भले परेश्वरनिश्वास (वेद) के तत्त्ववेत्ता हो ॥ ५७ ॥

विरहिणो निःश्वासमहिमानमाह–आशेति आशाडम्बर आशाविलासस्तस्य प्रियेतराऽविषयत्वान्निःस्वार्थभावप्रयुक्तत्वाच्च निर्मलत्वम्। अतएव तद्विषयस्याम्बरस्यापि तथात्वम्। तद्रूपत्वाद्वा। तस्मिंस्तारान्तरालेष्विति। सकललोकेष्विति फलितार्थः। विश्वं वीक्ष्येत्युत्तरस्मात्। तत्रोत्पतच्चेतस इति सम्बन्धः। अभितो व्याधुन्वन् विरहलक्षणो यः प्रकम्पनो महावायुस्तस्य पराघातेनोत्पतदुड्डीयमानं चेतो यस्य स तथा तस्य। उड्डयनफलं–विश्वं वीक्ष्येति। महत्याऽऽशया प्रेमास्पदं गवेषयतः मनोराज्यविधया सकलमपि जगद्वीक्ष्य तत्र तत्र संभाव्यापि स्फुटानुपलम्भेन ततस्ततो निवर्त्तितुर्निवृत्तस्येति यावत्। निराशावशात् प्रविसरतो निःश्वासतानस्यार्थं वेदितुं कः प्रभुः? कामं स स्रष्टुर्ब्रह्मणो निःश्वसितानां वेदानामर्थयाथात्म्यविदपि स्यात्। न कोऽपीत्यथ ॥ ५० ॥

प्राणान् केचिदहो जहुर्विरहिणः शक्तिप्रभावान्निजान्
नैतान् हन्त वयं स्तुवीमहि महायोगिस्वरूपानपि।
संभाव्य प्रियसंस्मृतौ स्वविरहे तद्दुःखसंभावनां
दह्यन्ते विरहेण ये तु शिरसा दध्मो रजस्तत्पदाम् ॥५८॥

किसी-किसी विरहियों ने विरह के कारण अपनी शक्ति के प्रभाव से अपने प्राणों को ही छोड़ दिया। अवश्य ही वे महायोगी जैसे हैं। फिर भी हम उनकी स्तुति नहीं करते। बल्कि उन महायशस्वियों की चरणरज हम अपने सिर में धारण करेंगे जो शरीर छोड़ सकने पर भी नहीं छोड़ते, किन्तु अपने विरह से प्रियतम को दुःख न हो ऐसा सोच कर विरहाग्नि में जलते हुए प्राण धारण करते हैं ॥ ५८ ॥

इतः परं च द्वाभ्यां विरहगरिमाणमन्यथा प्राह। प्राणानिति। निजानित्यन्वयः शक्तिप्रभावात्—अत एव महायोगिस्वरूपान्। संभाव्येति। प्रियतमः कदाचिन्मां स्मरेत्तदा मदभावेन दुःखी स्यादिति संभाव्य। यथा राधायाः स्वतनिमानं वीक्षमाणायाः। स्वमहत्त्वाननुचिन्तनात्तदीयदुःखस्यानिश्चितत्वात्—संभावनामित्याह। तस्या अपि संप्रति कल्प्यमानत्वात् संभाव्येत्यतिमहत्त्वम्। स्वनिमित्तदुःखिन्यतिस्पृहादृष्टेरलौकिकत्वमपि ॥५८॥

मन्ये न प्रियसंगमे स परमानन्दो यथाऽन्नेऽशिते
 योऽयं तद्विरहे तदन्तरभवे दीर्घे निराशाऽस्पृशि।
तस्मान्नास्त्यपरस्तु कश्चन परानन्दः समानः पुन-
 स्तत्राप्यभ्यधिकः कुतस्त्रिभुवने संभावनीयो भवेत् ॥५९॥

जो आनन्द निराशा रहित दीर्घ कालीन प्रिय विरह में होता है वैसा आनन्द प्रिय संयोग में मैं नहीं मानता। जैसे भोजनोत्तर भोजन में। प्रियविरहानन्द के समान भी कोई आनन्द नहीं तो बढ़ कर क्या हो ॥५९॥

विरहं स्वरूपतः प्रशंसति—मन्य इति। यथान्ने भुक्ते सति न तदिच्छा, तत्प्रयुक्तानन्दो वेति लौकिकाभिप्रायेण। तदन्तरभवे = पूर्वापरसंगमयोर्मध्यवर्त्तिनि। क्षणिके तु विरहे न कश्चिद्विशेषस्तादृशविरहस्य बहुलं जायमानत्वादत आह दीर्घे = दीर्घकालीने। तत्र निराशायां जातायामानन्दस्फूर्तिर्न स्यादत आह-निराशाऽस्पृशि। निराशां न स्पृशतीति तथा तस्मिन् अय ब्रह्मानन्द एवेत्याह—तस्मादिति। "यस्मात्परं नापरमस्ति किंचिदि" त्यादिश्रुतेः ॥५९॥

मा माऽऽलिङ्ग दवानलं किल सखे प्रेमाह्वयं भीषणं
 सोऽयं ते ज्वलयिष्यते तनुमनःप्राणेन्द्रियाणां चयम्।
यद्यालिङ्गित एव तर्हि भसितं संपादय स्वं सितं
 मैवापादय कालिमानमजरं वक्त्रेऽर्धदग्ध्या निजे ॥६०॥

हे मित्र ! तुम इस भीषण प्रेम नामक दावानल का आलिंगन मत करो। यह तो तुम्हारे शरीर, मन, प्राण और इन्द्रियों को जला डालेगा। और यदि भूल से तुमने इसका आलिंगन कर ही लिया तो अपने को इस दावानल में जला कर सफेद भस्म बना डालो। कदाचित्, ऐसा न हो कि आधा मुंह जल गया और हमेशा के लिये मुंह पर काला दाग आ गया। (अर्थात् बीच में प्रेम छोड़ना मुंह काला करना है) ॥ ६० ॥

प्रकरणमुपसंहरति मा मेति। ज्वलयिष्यत इति। विरहादेरवश्यंभावादिति भावः। अर्धदग्ध्या = अर्धज्वलनेन। यथाऽर्धज्वलितं काष्ठादिकं कालिमानं भजते तथा मध्ये प्रेमविच्छेदे कालिमापत्तिरित्यर्थः। अत्र श्लोके विरहो गम्यः। सित-भसितसंपादकत्वोक्त्या गरिमव्यक्तिश्च। विरहनिरूपणस्य प्रेमार्थत्वात्प्रेमवर्णनेऽपि न प्रकरणासंगतिः ॥ ६० ॥

इति पञ्चमं विरहगरिमनिरूपणं प्रकरणम्।

तत् किं प्रेम बिभर्त्ति यद्धि लवणं तोयेन सार्धं बहिः
स्वस्यैक्यं प्रतिपादयन्निजगुणान् यत्ख्यापयत्यन्तरा।
मित्रे प्लुष्यति पूतिगन्धिमिषतो दग्धं स्वकं दर्शय-
त्युत्सन्ने प्रकटीकरोति च निजं रूपं प्रसन्नं पुनः ॥६१॥

क्या यह प्रेम कहने योग्य है ? जैसा कि जल के साथ नमक का होता है। वह नमक जल से अत्यन्त एकता अपनी दिखाता है, किन्तु अन्दर से अपने गुणों को (खारेपन को) ख्यापित करता है। जब मित्र (जल) जलने लगता है तो दुर्गंधि के बहाने अपने को जले हुए दिखाता है। किन्तु मित्र के मरने पर (जल सूखने पर) अपना प्रसन्न स्वरूप प्रकट करता है। (जल सूखने पर नमक सुन्दर सफेद दीखने लगता है)

पूर्वश्लोके मैवापाद्य कालिमानमित्यनेनासत्प्रेम परित्याज्यमिति सूचितम्।

तथा हि लोके प्रेमपदं कामादिसाधारणतया प्रयुज्यत इति तदनुसारेण सदसद्विभागः। तत्र सदसत्प्रेमणी कीदृशे इति जिज्ञासायां प्रकरणेन ते प्रतिपादयति-तदिति। तदपि किं प्रेमपदयोग्यमिति काकुः। कुत्सितं प्रेम किंप्रेमेति वा। तत्र "किं क्षेपे" इति समासः। यत्-यादृशं प्रेम लववणं तोयेन सार्धं बिभर्त्ति। कीदृशं लवणं? यद्-लवणं बहिः बाह्यतो जलेन सह स्वस्यैक्यं प्रतिपादयत्। लवणसलिलसंयोगे बहिष्टो न भेदो दृश्यते। किन्त्वन्तरे मध्ये लवणं निजगुणान् ख्यापयति। आचमने लवणगुणः प्रकटीभवत्येव। इदं कापट्यमिति भावः। अपि च मित्रे जले प्लुष्यति दुर्गन्धि विसृजन् स्वकं दग्धं दर्शयति। लवणनिर्माणस्थले समुद्रतटे पूतिगन्धिप्रसरः प्रत्यक्षः। उत्सन्ने नष्टे च मित्रे जले निजं प्रसन्नं श्वेतं रूपं प्रकटीकरोतीत्यहो महत् कापट्यमिति ॥ ६१ ॥

धन्यं प्रेम तदेव यद् विगलितस्वार्थानुभावाङ्कुरं
लाक्षाहिङ्गुलरङ्गयोः सकृदियत्सङ्गेन संपादितम्।
संतप्तापि च चूर्णितापि च न सा स्वान्तःप्रविष्टं त्यजे-
देनं तामपि संत्यजत्यपियतीं नानुप्रयन्नप्यसौ ॥६२॥

स्वार्थ रहित वही प्रेम धन्य है जो एक बार के संग से ही सम्पन्न होने पर भी स्थिर रहता है, जैसे परस्पर लाक्षा और हिंगुल रंग का। वह लाक्षा तपाने पर भी एवं चूर किये जाने पर भी अपने अन्तः प्रविष्ट रंग को नहीं छोड़ती। तथा वह रंग भी नष्ट होती हुई उस लाख को नहीं छोड़ता, जब कि वह स्वयं उसके पीछे नष्ट होता जा रहा है ॥६२॥

धन्यमिति। सकृदियत् =सकृदाप्नुवद्। स्वान्तःप्रविष्टं रङ्गम्। अपियतीं=नश्यन्तीम्। अनुप्रयन् = अनुनश्यद्। असौ-रङ्गः ॥ ६२ ॥

तत् स्यात्प्रेम तु गार्दभं प्रथमतो यन्मेलयित्वा चिरं
द्वावप्येव गलं गलेन सुहृदावन्योन्यतश्चर्वतः।

गच्छन्तौ हि परस्परेण तरसा पृष्ठेन पृष्ठं क्षणं
प्रत्याहत्य च धावतो विदधतौ पादप्रहारं जवात् ।।६३।।

वह तो गर्दभ प्रेम है कि पहले दोनों गले से गला मिलाकर सुहृद् भाव से परस्पर चर्वण चुम्बनादि करते हैं। फिर जब जाने का समय होता है तो दोनों थोड़ी देर पीठ से पीठ मिलाते हैं और दनादन लात मारते हुए भाग जाते हैं ।। ६३ ।।

सकपटं निष्कपटं च प्रेमोक्तं द्वाभ्याम् । अथ त्रिभिर्निकृष्टतमं निकृष्टतरं निकृष्टं चाह-तस्यादित्यादिभिः ।। ६३ ।।

हा तत् प्रेम महीयसोऽपि महतां व्योम्नश्चिर यत् परं
मित्रं स्वं हृदये निधाय जलधौ क्षिण्वन्तमाक्षिप्यति ।
कृत्वाऽथो हिमदीधितिं स्वहृदये ताराश्च दोषान्तरात्
क्षिप्त्वा तानपि चोदयन्तमयते मित्रं पुनः पूर्वगम् ।।६४।।

व्योम महान् से भी महान है, फिर भी उस के प्रेम के बारे में अपसोस करता हूं; क्योंकि अपने परम मित्र मित्र (सूर्य) को बहुत देर तक हृदय में रख कर भी क्षीण होने पर उसको समुद्र में ढकेल देता है और शीतल किरण चन्द्रमा तथा ताराओं को हृदय में रख लेता है। फिर उनमें भी कुछ दोष देख कर उन्हें भी गायब करता है और अभ्युदय की ओर बढते हुए देख कर पूर्व मित्र को पुनः अपना लेता है ।। ६४ ।।

हा तदिति । महतां पृथिव्यादीनां महीयसोऽपीति कष्टतरम् । नायं गर्दभवदिति । मित्रं सुहृदं सूर्यमिति तन्त्रेण निर्देशः । क्षिण्वन्तमित्यत्र सूर्यमात्रग्रहणमिति पुंस्त्वोपपत्तिः । परं श्रेष्ठमित्यहो कष्टतमम् हृदये इति मध्यस्योक्तिः । हृदये निधायेत्यतिप्रेमप्रदर्शनाय । क्षिण्वन्तं क्षीणपुण्यं क्षयं प्राप्नुवतं वा पतन्तं वा जलधौ आक्षिप्यति । आ-ईषदीषत्क्रमेण गलमर्दनेन शनैःशनैर्हननवत् । हिमदीधितिमिति । एतेन तद्धारणकारणमुक्तम् । ताराश्चेति चापल्यद्योतनाय । दोषान्तरादिति ।

न ज्ञायत इभ्यानां हृदयं कदा कं दोषं ते पश्यन्तीति भावः। दोषा रात्रिस्तदवधे-रिति च। "अन्तरमवकाशावधी"त्याद्यमरः। उदयन्तमुदयमानम्। अभ्युदयं प्राप्नुवन्तमिति च गम्यते। पुनर्ग्रहणे हेतुश्चायम्। पूर्वंगं प्राथमिकं पूर्वदिशागत-मिति सूर्यपक्षे। आपद्गतं जहात्यभ्युदयमानं गृह्णातीति कुमित्रलक्षणमिति भावः ॥६४॥

धिक् त्वां प्रेम विलोक्य ते मम तमीनाथ व्यथा जायते
प्रेयस्यां ध्रियसे हि यत्त्वमसिते पक्षे हतायामपि।
त्वत्तस्ते लघवोऽपि नूनमुडवो मन्येऽथवा अप्यमी
श्रेयांसः प्रयतीं निरस्तसुषमां येऽनुप्रयन्ति क्षपाम् ॥६५॥

हे तमीनाथ (रात्रि पति) चन्द्र ! तुम्हें धिक्कार है। तुम्हारा प्रेम देखकर मुझे भारी व्यथा होती है जो तुम अपनी प्रेयसी (रात्रि) मारी जाने पर भी कृष्ण पक्ष में जीवित रहते हो (दिन में भी दीखते हो) तुमसे अच्छे तो वे तारे हैं जो तुमसे छोटे होने पर भी तथा रात्रिपति न होने पर भी निस्तेज होकर नष्ट होती हुई रात्रि के पीछे स्वयं भी निस्तेज होकर नष्ट होते हैं ॥ ६५ ॥

धिक् त्वामिति। हे तमीनाथ निशापते त्वां धिक्। यतस्ते प्रेम विलोक्य मम व्यथा जायते। यस्त्वं प्रेयस्यामिति तमीनाथेत्युक्तेः प्रेयसी रात्रिः। ध्रियसे अवतिष्ठसे। "धृङ् अवस्थाने" तुदादिः। असिते पक्ष इति। कृष्णपक्षे रात्र्युत्तरमपि चन्द्रमसो दृश्यत्वात्। नाथत्वमापन्नस्य प्रथमं भार्यारक्षणं युक्तं, केनचित्तस्यां हन्यमानायां तेन सह युद्धे मरणं द्वितीयं युक्तम्, तदुभयमप्यकुर्वाणं त्वां धिगति तात्पर्यम्। अथवा इति। केवलमाश्रितवन्तस्ते रजनीम्। तावतापि दृढं सौहार्दम्। श्रेयांस इति। यद्यपि श्रेष्ठा इति युक्तम्। तथापि लघव इति विशेषणाच्छ्रेयांस इत्युक्तम्। प्रयतीं म्रियमाणाम् अनुप्रयन्ति-अनुम्रियन्ते ॥ ६५ ॥

तं मन्ये प्रणयं परं निरुपमं योऽपां पतिं प्रत्यपां
याः सौरैर्निहताः पदैः प्रतिययुः प्रेयोवियोगाद्दिवम्।

पर्जन्यत्वमुपेत्य वृष्टिषु पुनः संप्राप्य जन्मान्तरं
प्रेत्य प्रेत्य पुनश्च यान्ति जनुषां कोटयापि चान्ते प्रियम् ।।६६।।

मैं उस प्रेम को अनुपम एवं श्रेष्ठ मानता हूं जैसा कि समुद्र के प्रति जल का होता है। जो सूर्य के पाद (लात और किरण) से आहत होकर प्रिय समुद्र के वियोग से दिवं—(आकाश और स्वर्ग) गत हो गया। किन्तु पुनः मेघ होकर वृष्टि के द्वारा जन्मान्तर पाकर मरते जनमते करोड़ों जनमों में भी अन्ततः अपने प्रिय के पास पहुँच गया ॥६६॥

उक्तत्रितयविपरीतं शुद्धप्रेमाह-तं मन्य इति । अपांपतिं समुद्रं प्रति अपां जलानाम् । या आपः सौरैः पादैश्चरणैः किरणैश्च निहताः प्रेयोवियोगाद् दिवं प्रतिययुः मृता इति यावत् । आकाशं वाष्परूपेण ययुरिति च । प्रेयोवियोगे सति न ताः प्राणान् दध्रुरिति महदाश्चर्यम् । अपि च मरणोत्तरमपि न प्रेम तत्यजुः । किन्तु गौरीवदेव जन्मान्तरे प्रियं प्राप्तुं प्रयेतिरे । तथा च पर्जन्यभावं प्राप्य वृष्टिषु वृष्टिभिरिति यावत् । पुनर्जन्मान्तरं प्राप्य पुनस्तोयभावं प्राप्य यथा पञ्चाग्निविद्यायां रंहिता । न चैतावता निस्तारः । कदाचित्समुद्रे जलवर्षणसंभवेऽपि तथा नियमाभावात् । क्षेत्रादौ वर्षणे पुनस्तत्रैव शुष्यन्त्यः प्रेत्य पुनः पर्जन्यक्रमेण जन्मान्तरमासाद्य तथैव पुनः पुनः प्रेत्य जन्मान्तराणि चासाद्य जनुषां कोटयाप्यन्ते साक्षाद्वा नदीद्वारा वा प्रियं समुद्रं यान्त्येवेति ॥६६॥

स्वाभाव्यं मुकुरस्य किं नु सरसैर्दिव्यैः स्तुवीमः स्तवैः
स्निग्धानामुपमिन्वते स्म कवयः स्वान्तं सुधीनां यतः ।
आसन्नं हृदि सन्दधाति सहसा सर्वात्मभावेन यः
संवृङ्क्ते किल विप्रकृष्टमथ तं धत्तेऽन्यमभ्यर्णगम् ।।६७।।

दर्पण के स्वभाव की दिव्य स्तुतियों से हम क्या स्तुति करें ? अवश्य ही स्निग्ध सुधीजनों के हृदय की उपमा कवि गण उससे करते हैं। किन्तु वह (दर्पण) समीपस्थ को पूर्ण रूपेण एकदम अपने हृदय में धारण

करता है और वही दूर गया तो छोड देता है और समीपस्थ दूसरे को हृदय में रख लेता है ॥ ६७ ॥

अधुना स्थिरास्थिरप्रेमणी द्वाभ्यामाह-स्वाभाव्यमिति । स्वभाव एव स्वाभाव्यं मुकुरस्य दर्पणस्य किं नु स्तुवीमः । स्तुत्यत्वप्राप्ति दर्शयति-स्निग्धानामित्यादि । स्नेहयुक्तानां सुधीनां स्वान्तं यतः येन दर्पणेन कवय उपमिन्वते । तर्हि तव का तत्र विप्रतिपत्तिस्तत्राह आसन्नमिति । समीपस्थं पूर्णतया हृदये गृह्णाति पूर्णप्रतिबिम्ब-ग्राहित्वात् । तमेव विप्रकृष्टं संवृङ्क्ते संत्यजति । अथ चाभ्यर्णगं संमुखगतमपरं हृदि धत्ते । तस्य कथं स्तुत्यत्वमिति भावः ॥ ६७ ॥

तत् प्रेमप्रवणत्वमद्भुततमं संस्तोमयामो वयं
छायाग्राहककर्गलस्य जडताभाजोऽपि चैकान्तिकम् ।
यत्तावत्सकृदात्मना परिधृतं नैव स्वरूपं पुन-
र्मुञ्चत्येव न याति वाऽऽन्तसमयं किंचित्स्वरूपं परम् ॥६८॥

फिल्म नेगेटिव अवश्य ही जड़ है फिर भी उसके महाद्भुत एकान्तिक प्रेम की हम सर्वथा स्तुति करेंगे। एक बार जिस एक स्वरूप को वह धारण कर लेता है, अन्त तक वह उसे नहीं छोड़ता, और न किसी दूसरे स्वरूप को हृदय में धारण करता है ॥ ६८ ॥

अस्थिरमुक्त्वा स्थिरं प्रेमाह तदिति । तत् प्रेमपरत्वं वयं स्तुवीमः । कस्य ? छायाग्राहककर्गलस्य चित्राकर्षणकर्गलस्य "फिल्म नेगेटिव" इत्यादिप्रसिद्धस्य । अत्रापि विशेषः-अज्ञस्याप्यैकान्तिकमव्यभिचरितम् । आत्मना स्वेन यत् स्वरूपं परिधृतं भवति तद् आ अन्तसमयमन्तसमयपर्यन्तं नैव मुञ्चति समुद्रजलदृष्टान्ते जलं समुद्रं व्यक्त्वा कदाचिद् अन्यत्रापि यात्रादौ गच्छतीति ततोऽपि विशेषोऽत्र न कदाचित्त्यजतीति । लाक्षा सकृद्रङ्गधारणे पुनः कठिनीभूते पुनर्द्रवणे रङ्गान्तरमपि पातितं गृह्णाति न तु छायाकर्गलो रूपान्तरमिति ततोपि विशेषः ॥ ६८ ॥

मुग्धे मा स्य पिपीलिके सुरभितं माधुर्यपूरान्वितं
स्नेहं विश्वसिहि प्रमादपतिता हैयङ्गवीनस्य यः।
उत्तप्तेन कदाचनातिमृदुनाप्यन्तर्भृतच्छद्मना
प्राणोऽनेन हरिष्यते तव बलाद्विश्वासविस्रंसिना ॥६९॥

अरी मुग्ध पिपीलिके ! (चींटी) तुम प्रमाद में पड़ कर माधुर्य एवं सुगन्धि से युक्त भी नवनीत के स्नेह पर विश्वास मत करो। यह अत्यन्त मृदु होने पर भी अन्दर से कपटी है। कभी गरम हो जायेगा तो विश्वास तोड़ कर वह तुम्हारे प्राणों को ही बलात् हर लेगा ॥ ६९ ॥

सदसत्प्रेमविवेकानन्तरमसतोऽग्राह्यत्वमाह त्रिभिर्मुग्ध इति। स्नेहे सुरभिमाधुर्ये सामानाधिकारण्येन। स्नेहमिति। स्नेहनामत्वेऽपि यथार्थप्रेमाख्यस्नेहता नास्तीति हृदयम्। उत्तप्तेनेति। क्रोधादिनोत्तप्तत्वं व्यङ्ग्ये गम्यते। अन्तर्भृतच्छद्मनेति। यथार्थस्नेहप्रदर्शनाच्छद्म। न चात्र चूर्णादिपिण्डीभावहेतुः स्नेहो वस्तुतोऽस्तीति वाच्यम्। स्नेहशब्दोपस्थाप्यप्रकृतप्रेमविरहात्। एवं कपटपुरुषेष्वपि प्रेमशब्दार्थप्रसिद्धकामादिसत्त्वेऽपि प्रेमशब्दमुख्यार्थप्रकृतप्रेमविरहादेव कापटयम्। ननु बोद्धुरेवाज्ञत्वप्रयुक्तान्यथाग्रहो न तु बोध्यस्य कापटचमिति चेन्न। नवनीतस्य चेतनत्वमारोप्यैतद् वर्ण्यते। तथा च पण्डितापण्डितौ समनामानौ देवदत्ताख्यौ यदा तत्रापण्डितेनोपसीदन् विद्यार्थी वक्तव्योऽपरो देवदत्तः पण्डितस्तमुपसीदेति। तथाऽकथने यथा कापटचं तथाऽत्रापीति भावः। हरिष्यत इति। द्रुते हि नवनीते पिपीलिका म्रियन्त इति प्रसिद्धम् ॥ ६९ ॥

मा पाः क्ष्वेडविमिश्रितं बत सखे कौटुम्बभाण्डाश्रितं-
शुभ्रं चापि बहिः प्रपानमधुरं सङ्गाभिधानं पयः।
आत्मानं जरयत् क्षणेन सुधियां प्रज्ञामशेषां हरद्
मृत्योर्मृत्युमदो जनस्य गमयत्स्यात्संप्रणाशाय यत् ॥७०॥

हे मित्र ! तुम इस कुटुम्ब रूपी पात्र में स्थित विषमिश्रित संगरूपी दूध मत पियो। यह बाहर से जरूर स्वच्छ है और पीने में मधुर भी है, किन्तु क्षण में ही पीने वाले को जीर्ण करेगा, प्रज्ञावानों की सम्पूर्ण प्रज्ञा को हर लेगा, लोगों को मृत्यु से मृत्यु प्राप्त करायेगा। इस प्रकार यह विनाश का ही कारण होगा ॥ ७० ॥

अन्यनिष्ठस्याऽसत्प्रेम्णोऽविश्वसनीयतयाऽग्राह्यत्वमुक्तम्। अधुना स्वनिष्ठस्याऽऽसक्त्याख्यस्यासत्प्रेम्णस्त्याज्यतयाऽग्राह्यत्वमाह-मा पा इति। बतेति खेदे। कुटुम्बमेव कौटुम्बं तदेव भाण्डं तदाश्रितं तद्विषयकम्। शुभ्रं वहिरिति आपाततः श्रेष्ठम्। मृत्योर्मृत्युमिति। मृत्योः पश्चाज्जन्मनि सति पुनर्मृत्युरिति। तत्र भयंकरत्वान्मृत्युरेव प्रदर्शनीय इत्यत एव श्रुतावपि "मृत्योः स मृत्युमाप्नोती" त्येव पठ्यते। संप्रणाशयेति। "सङ्गात्संजायते काम" इत्यादेः। यद्=यस्मात् ॥ ७० ॥

अन्तःपङ्कचयं बहिर्जलकणं मोहाभिधानं सर-
स्तस्मिन्नेष मनोमतङ्गमपतिर्लीलाविलोलेक्षणः।
विश्रम्भादवतीर्य संयतपदो दुस्ताररूपे विप-
र्यस्तप्रेमगभीरनिर्मलपयःपूरे भृशं सीदति ॥७१॥

यह मोह रूपी सरोवर अन्दर से पंकिल है और बाहर से जल कण दिखाई दे रहे हैं। इसमें यह मनो रूपी गजपति लीलार्थ चंचलनयन होकर विश्वास के साथ उतर गया और फंस गया है। यह अति दुस्तर है निर्मल अथाह जल की इसमें भ्रांति होती है। परिणामतः इसमें फंस कर हाथी अत्यन्त पीड़ित होता है ॥ ७१ ॥

इदानीमुभयनिष्ठमोहाभिधानासत्प्रेम्णो घोरक्लेशहेतुत्वोक्त्याऽग्राह्यतामाह—अन्तरिति। ग्रीष्मकाले प्रायः शुष्कसर एवंविधम्। लीलेति। तृषामपनयामि क्रीडासुखं चानुभवामीतीच्छाहेतोर्विलोले ईक्षणे यस्य सः। कामुकानामपि कामप्रशमनं न मुख्यं किन्तु क्रीडासुखमेव। साधनैः काममुत्पाद्यापि क्रीडासुखानु-

भवार्थयत्नदर्शनात् । अत एव तृष्णाविलोलेक्षण इत्याद्यनुक्त्वा लीलाविलोलेक्षण इत्युक्तम् । काममपि स्वतन्त्रं पुरुषार्थं मन्यन्त इति मोहाभिधानमित्युक्तम् ॥ ७१ ॥

विश्वं पङ्किलपल्वलप्रतिफलत्सालोपमं ब्रह्मण-
श्छायामात्रमिदं विदुः प्रकृतिगं तत्रोर्ध्वमत्र त्वधः ।
प्रेमा यः परमोत्तमो भगवतः कान्ताख्यभावाश्रितः
सोऽयं स्यादधमाधमः समतनुः कामाभिधानस्तनोः ॥७२॥

यह विश्व तो दलदल वाले तालाब में प्रतिविम्वित वृक्ष के समान प्रकृति में प्रतिविम्बित ब्रह्म की छायामात्र है। जो विम्ब में ऊपर का भाग होगा वह इस प्रतिबिम्ब में सबसे नीचे रहेगा। जो प्रेम भगवान के प्रति कान्ता भाव या कान्त भाव में स्थित है वही प्रेम शरीर विषयक होने पर काम नामवाला होता है और अत्यन्त अधम होता है ॥ ७२ ॥

ननु सदसत्प्रेमविभागकथनमयुक्तम् । न हि भवति महात्मानः सन्तोऽसन्त इति द्विधेति । महात्मनां सत्त्वनियमात् तथा प्रेम्णोऽपि सत्त्वनैयत्यादित्याशङ्कां परिहरन्निदमाह—विश्वमिति । द्रव्यगुणादिलक्षणं जगत् पङ्किले पल्वले प्रतिफलतः सालस्य वृक्षस्योपमा यस्य तत्तथा । पल्वलस्थानीयप्रकृतिगतं ब्रह्मणश्छायामात्रम् । तथा चाहुर्भगवत्पादाः "विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यमि"ति । ब्रह्मण एकत्वेऽपि नानात्वप्रतीतिर्मायाशक्तिवशात् । तथा च श्रुतिः—इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयत इति ततः किं ? तत्राह-तत्रेति । तत्र ब्रह्मावलम्बिनि यदूर्ध्वं तदत्र जगदवलम्बिन्यधो निकृष्टं भवतीत्यर्थः । ततोऽपि किमित्यत आह—प्रेमेति । यः प्रेमा भगवन्तं प्रति कान्ताख्यभावावलम्बनः स एव समशरीरः शरीरं प्रति कामाभिधानोऽधमाधमो भवतीति । अयं भावः—लोके भक्तौ कामे च समानतया प्रेमशब्दं जना प्रयुञ्जते । प्रत्युत बहुतरं कामे एव प्रेमशब्दः प्रयुज्यमान उपलभ्यते । ततश्च लोकानुसारेणैव भक्तिकामभेदेन प्रेम्ण उत्कर्षापकर्षौ सदसत्त्वविभागश्चेति । नन्वगम्याविषयककामस्याधमत्वेऽपि "धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मी"ति भगवदुक्तेर्न काममात्रस्याधमाधमत्वं युक्तमिति चेद् । एवं पुन"स्तस्कराणां पतये" "वञ्चते परिवञ्चते"

इत्यादिश्रुतेस्तस्करत्ववञ्चत्वादेरपि उत्तमत्वं स्यात् । प्रवृत्तिमार्गिणां पुत्रजनकत्व-मात्ररूपेण तस्योपादेयत्वेऽपि विषयभोगरूपेण तस्याधमत्वमेव । सर्वाधिकरागः कामोपभोगेष्विति रागतः प्राप्तेर्विध्यविषयत्वं "लोके व्यवायामिषमद्यसेवे"त्यादिना योगीश्वरश्चमसवचने व्यक्तम् । विनैव विधिं पश्वादेरपि तत्र प्रवृत्तिदर्शनात् । मोक्षशास्त्रे स्त्रीपुरुषरागरूपकामस्य श्रेष्ठत्वप्रसाधनवैयर्थ्याच्च । अधिकं कादम्बिन्याम् ॥७२॥

इति षष्ठं सदसत्प्रेमविभागप्रकरणम्

काचिच्चक्षुषि वेदना विरहिणो बाष्पप्रवाहो यतः
कर्णान्ते च यतस्तदन्यविषयः शूलायते निःस्वनः ।
सर्वाङ्गेषु च दावपावकवलज्ज्वालेव जाज्वल्यते
कोऽयं नाम गदः श्वयत्यनुपलं नो वेद धन्वन्तरिः ॥७३॥

विरही की आँखों में एक ऐसा दर्द रहता है जिससे निरन्तर आंसुओं की झडी सी लगी रहती है। कानों में भी एक ऐसा दर्द रहता है जिससे प्रियतम से अन्य किसी की बात शूल जैसी लगती है। सारे अंगों में भी दर्द रहता है जिससे ऐसा लगे कि दावानल जल रही हो। यह कौनसी ऐसी बिमारी है जो क्षण-क्षण में बढ़ती ही जा रही है, इसे स्वर्ग-वैद्य धन्वन्तरि भी नही जान पाते ॥ ७३ ॥

अथ विरहानुभावप्रकरणमारभते—काचिदिति । प्रेमानुभावस्य प्रथमनिरूपणयोग्यत्वेऽपि तस्य परमोत्कृष्टभूमिकात्वादन्ते निरूपणमिति बोध्यम् । चक्षुषीत्यादिना हृद्गतां वेदनामन्यथयति । कुतश्चक्षुषि वेदना ? यतो बाष्पप्रवाहो दृश्यते । धूल्यादिपतने रोगे वा चक्षुष्टो बाष्पप्रवाहदर्शनात् । कर्णान्ते-कर्णमध्ये । तदन्येति । विरहिपदाक्षेपलभ्यप्रियतमस्तत्पदार्थः । शूलायत इति । कर्णरोगिणो हि बाह्यशब्दः शूलवत्प्रतीयते । अन्यत् स्पष्टम् । अत्र विरहिण इतिपदेन प्रेमगदो द्योत्यते ॥७३॥

येनैतद्दलितं खलेन हृदयं तीक्ष्णैः कटाक्षेषुभि-
र्नान्यस्तस्य चिकित्सनाय भुवने संत्यज्य तं कश्चन ।
किन्त्वस्मिन्नुपसर्पति व्रणमिदं दुष्प्रेक्षणीयं भव-
त्तस्मिन्निःसरति क्षणेन हि पुनः सम्पद्यते दुःसहम् ॥७४॥

जिस खल ने अपने तीखे कटाक्ष वाणों से हृदय को वेध डाला अब हृदय चिकित्सा के लिये संसार में उसे छोड़ कर दूसरा कोई संभव नहीं है। लेकिन मजे की बात यह है कि जब वह पास में आता है तो व्रण गायब हो जाता है और उसके निकल जाने पर क्षण में ही फिर से असह्य बन जाता है ॥ ७४ ॥

बाष्पादिभिश्चक्षुरादौ वेदनानुमिता । तत्र कारणान्तरमपश्यन् हृदयवेदनामेव प्रात्यक्षिकमनुममे । सा व्रणवशात् । व्रणश्च कटाक्षेषुहेतुक एव भवितुमर्हतीति निश्चिन्वश्चिकित्सकानचिन्तयत् । तत्र कटाक्षबाणप्रयोक्तुरितरान् सर्वानसमर्थानुपलभमान इममनुभावमाह–येनेति । खलेनेति सासूयोक्तिः । अयमेकोऽनुभावः । नान्य इत्यनन्यगतिकत्वानुभावः । दुष्प्रेक्षणीयमिति । मानप्रयोजकव्रणविशरणान्मानविशरणमपि । व्रणप्रयुक्तसकलकार्यभङ्गानुभावः । दुःसहमित्यनेन पूर्वं सह्यमिति सूच्यते । तथा चासहनीयवेदनानुभावः । किन्त्वित्यादिना बहिष्टो वेदनाकारत्वेऽप्यन्तः वेदनाकारराहित्यं ध्वनितम् ॥ ७४॥

यत् प्रत्यायि पुरा व्रणं सलवणक्षोदाम्बुधारोक्षितं
यस्यापाकृतये सशङ्कमगदङ्कारोऽनुनीतो मुहुः ।
तस्मिंस्तिर्यगपाङ्गनिर्यदमृतस्रोतस्युपेते क्षणा-
ल्लेखा सा समलोकि पीवरसुधाधारासमुन्मीलिता ॥७५॥

जो व्रण पहले ऐसा लगता था कि नमकीन पानी ऊपर से सींचा है, जिसे मिटाने के लिये साशंक वैद्य साहब से बार-बार अनुनय किया था, तिरछे कटाक्ष से अमृत स्रोत बहाते उस वैद्य के आते ही क्षण में देखा कि

यह व्रण नहीं है किन्तु मोटी अमृत की धारा से उत्पन्न हुई कोई रेखा है ॥ ७५ ॥

विरहोत्तरमिलनसुखोत्कर्षे विरहस्यैव प्रयोजकत्वाद्विरहानुभावविधयैव तं व्याचष्टे—यदिति । क्षोदश्चूर्णंस्तत्सहितमम्बु । सशङ्कमिति । तिरस्कारादिशङ्कयेति भावः । अगदङ्कारो वैद्यः । अनुनीतो दूरस्थः समीपागमनाय । तिरश्चोऽपाङ्गाद् निर्यदमृतस्रोतो यस्य तथाविधे तस्मिन् । सा-व्रणत्वेन दृष्टा । पुर्वश्लोके आन्तरवेदनाकरत्वं विरहस्योक्तम् । इह चान्तरानन्दाकारत्वमुच्यते । विरहोत्कर्षेण चोत्तरोत्तरानुभावोत्कर्ष इति बोध्यम् ॥ ७५ ॥

पश्येयं तस्य रूपं कमपि च शृणुयां तन्मुखोद्गीर्णवर्णं
तत्पादाम्भोजरेणूनयननिपतितान् मस्तके धारयेयम् ।
निःशेषं जीवितं मे भवतु कलयतस्तत्स्वरूपं न चेत्स्यात्
सद्यः प्राणाः प्रयान्तु प्रभवतु न च मे क्वापि सत्त्वप्रवृत्तिः ॥७६॥

मैं प्रियतम का ही रूप देखता रहूँ, उनके मुंह से निकले शब्द सुनता रहूँ, मार्ग पतित उनकी चरण रज मस्तक पर धारण करूं, मेरा पूरा ही जीवन उनके स्वरूप के चिन्तन में ही बीत जाए । यदि ऐसा न हो सके तो आज ही मेरे प्राण निकल जाये और संतार में कहीं भी मेरे अस्तित्व की वार्ता ही न रह जाए ॥ ७६ ॥

वेदनारूपोऽनुभावो लक्षितः । अधुनाऽऽशारूपमनुभावं लक्षयत्यष्टभिः । तत्रापि स्वीयसुखाऽऽशाऽन्तरितमाशानुभावमाह—पश्येयमित्यादि द्वाभ्याम् । आशायाः परां काष्ठां प्रकटयति—न चेदिति । तद्दर्शनादिसौभाग्यं यदि न स्यादित्यर्थः । सत्त्वप्रवृत्तिः—अस्तित्ववृत्तान्तः । "वार्त्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्त" इत्यमरः ॥ ७६ ॥

सोपानेषु भवेयमेष दृषदः खण्डं तदध्वन्यहं
किं वा धूलिचयो भवानि सरणौ तत्पादसंस्पर्शभाक् ।

काचित्स्यां लतिका प्रपादहतिका तद्वाटिकायामहं
कापीयं जयति प्रियं प्रति सतां प्रेमप्रणीता मतिः ॥७७॥

प्रियतम के चढ़ने की सीढ़ी का एक छोटा पत्थर मैं बनूं, या मार्ग में प्रिय चरण स्पर्श का भागी एक धूलि कण होऊं, या उनके बगीचे में चरण की ठोकर पाने वाली एक लता बनूं। प्रिय के प्रति संतों की यह प्रेम भावना महा महिम युक्त है ॥ ७७ ॥

स्वीयस्वरूपाऽपरित्यागेन पूर्वत्राशा दर्शिता। स्वरूपं विधूय तुच्छेन रूपान्तरेण तां दर्शयति—सोपानेष्वीति। यद्यपि आद्यपादद्वयोक्तयोरुत्तरोत्तरापकर्षसत्त्वेऽपि तृतीयपादोक्ते न ततोऽपकर्षः। लतिकाया धूल्यपेक्षया सोत्कर्षत्वात्। तथापि दृषद्धूल्योः पादाहतिरकिंचित्करी। तुच्छार्थककन्प्रत्ययान्तलतिकापदार्थः पादाहत्या शुष्येदिति वैशेष्यमादाय तृतीयपादे तदुक्तिरिति द्रष्टव्यम्। प्रपादमिति प्रपदमित्यर्थे। पादाग्रं प्रपदमित्यमरः। प्रपादेन हतिर्यस्याः सा प्रपादहतिका ॥ ७७ ॥

हे नाथाधिवसानि तूलविधया कन्थां क्वचित्तावकीं
कौशेयस्त्वदुपानदन्तरशयः स्यां वा वराशिर्मृदुः।
यद्वा धूलिचयो भवानि मृदुलो मार्गावलम्बी तव
स्यादेषा मम येन केन विधिनाप्यानन्दहेतुस्तनुः ॥७८॥

हे नाथ! मैं आपकी गुदड़ी में कहीं रूई बन कर रहूँ, अथवा आपके जूते में रेशमी मुलायम मोटा कपड़ा होकर रहूँ, या आपके मार्ग में धूल बन कर रहूँ। किसी भी प्रकार मेरे इस शरीर से आपको कुछ आनन्द प्राप्त हो ॥ ७८ ॥

स्वीयसुखप्राधान्येन पूर्वत्राशानुभाव उक्तः, तत्पादसंस्पर्शभागित्यादिशब्दस्वारस्यात्। अधुना प्रेमास्पदीयसुखप्राधान्येन तमाह—हे नाथेत्यादिचतुर्भिः। तत्रापि विपरिणंस्यमानस्य स्वरूपस्य स्वीयाशामात्रविषयीभूतस्याशानुभावमाह—प्रथमश्लोकद्वयेन। तत्रापि स्पष्टं स्वीयाशाविषयत्वं प्रथमे। किं च कल्पितरूपमात्रं प्रथमे।

द्वितीये शास्त्रोक्तरूपमिति । वराशिः स्थुलशाटक इत्यमरः । "उपान्वध्याङ्वसः" । अत्र शरीरोपरि परिधानात्कन्थायामुत्कर्षः । उपानदन्तरवर्त्तिनो वराशेरपकर्षतरत्वम् । ततोऽप्यधःस्थायिनो धूलिचयस्यापकर्षतमत्वम । किं वा धूलिकणो भवानीति पूर्वोक्तेन पौनरुक्त्यं गतार्थत्वं वा न शङ्क्यम विषयभेदात् । पूर्वत्र प्रियतमस्पर्शः स्वोपरि स्यादित्याशा । अत्र तु स्वस्पर्शसुखं प्रियतमस्य स्यादिति । अत एव मृदुल इतीह विशेषणं साकूतम् । अवतरणिकोक्तानुभावभेदश्च न विस्मर्त्तव्यः ॥७८॥

अम्बु स्यां प्रतिसंचरे त्वयि झषाकारावलम्बिन्यहं

पङ्कः स्यां त्वयि लेशतोयमसृणः पीने वराहाकृतौ ।

उत्तुङ्गो मृगराजशैलशिखरः कण्ठीरवाकारगे

कच्छोऽहं त्वयि कच्छपाकृतिधरे शीतानिलाप्यायितः ॥७९॥

हे नाथ ! प्रलय समय में जब तुम मत्स्यावतार में हों तब मैं शीतल जल बन जाऊं, जब तुम वराहवतार में हों तब मुलायम कीचड़ बनूं, सिंहाकार (नृसिंहावतार) में हों तो सिंहाद्रि का ऊंचा शिखर हो जाऊं, कच्छपावतार में हों तो शीतल वायु से आप्यायित कच्छ बन जाऊं ॥७९॥

प्रतिसंचरे = प्रलये । मृगराजशैलेति । हिरण्यकशियुवधोत्तरं सिंहाद्रौ रराज-भगवान् नृसिंह इति प्रसिद्धिः । तथा च चित्सुखाचार्या —"सोऽव्याद्वः शरदिन्दु-सुन्दरतनुः सिंहाद्रिचूडामणिरि"ति । कच्छ इति । "जलप्रायमनूपं स्यात्पुंसि कच्छ-स्तथाविध" इत्यमरः । अत्र सर्वत्र प्रतिसंचारादौ जलादेरवश्यंभावात् स्वस्य जला-दिरूपत्वं स्वीयाशाविषयत्वमात्रम् । तत्र स्वमनभिजानतोऽपि प्रेयसः स्वेन सुखं स्यादित्याशा । तत एव शीतलत्वममृणत्वोत्तुङ्गत्वशीतानिलाप्यायितत्वविशेषणानि ॥ ७९ ॥

चन्द्रः स्यां परिपूर्णदीधितिरहं स्याच्चेच्चकोरो भवान्

बिन्दुः स्यां भवदास्यमध्यपतनः स्याच्चातकश्चेद्भवान् ।

मेघः स्यां घनगर्जनोऽसितरुचिः स्यान्नीलकण्ठो भवान्
गीतं स्यां मधुरस्वरं यदि भवेद्वन्यः कुरङ्गो भवान् ॥८०॥

यदि आप कदाचित् चकोर पक्षी हो जायं तो मैं पूर्ण प्रकाश चन्द्रमा बनूं, यदि चातक पक्षी हो जाय तो आपके मुंह में पड़ने वाली जल बिंदू बनूं, यदि आप मोर बनें तो मैं गरजता हुआ काला मेघ बनूं, यदि आप जङ्गली हिरण बनें तो मैं मधुर स्वर गीत बन जाऊं ॥ ८० ॥

पूर्वत्र स्वीयपरिणताकारे स्वीयाशाविषयत्वमात्रमुक्तम्। संप्रति स्वीयपरिणताकारे प्रेमास्पदीयाशाविषयत्वमाशासानस्तदीयपरमसुखसंपिपादयिषानुभावमाह—चन्द्र इत्यादिद्वाभ्याम्। तथापि प्रथमे भगवतः स्वकल्पिताकारेण द्वितीये शास्त्रोक्ताकारेणेति विशेषः। श्लोकार्थो निगदव्याख्यातः ॥ ८० ॥

इक्षोः खण्डमहं भवानि भगवन्नैरावतः स्याद् भवान्
शष्पाणां निकरो भवानि हरितः स्यास्त्वं यदा कामधुक्।
नाथ स्यां ससिताकमद्भुतरसं हैयङ्गवीनं यदा
श्रीकृष्णो भुवि नन्दराजतनयो वृन्दावने रंस्यसे ॥८१॥

हे भगवन्! जब आप ऐरावत हाथी हों तब मैं ईख का टुकड़ा बनूं, जब आप कामधेनु गाय बनें तब मैं हरी घास हो जाउं। हे नाथ! तब मैं मिश्री सहित सरस माखन बनूं जब आप भूतल में नन्दराय पुत्र श्री कृष्ण होकर वृन्दावन में रमण करेंगे ॥ ८१ ॥

इक्षोरित्यादि। अक्षरार्थो निगदव्याख्यातः। "ऐरावतं गजेन्द्राणा" मिति "धेनूनामस्मि कामधुगि"ति च तत्तदाकारत्वं भगवतः शास्त्रसिद्धम्। श्रीकृष्णभक्तितात्पर्यमभिव्यञ्जयन्नेवाह—नाथ स्यामिति ॥ ८१ ॥

घोरा मे यातना स्यात्प्रतिविधिविधया दह्यतामङ्गजात
खण्डं खण्डं शरीरं भवतु च निरयेऽनन्तकालान्तवासः।

नैव स्यात्क्लेशलेशो निमिषलवमपि प्रेयसो मे कदापि
प्रेम्णा पूतस्य सोऽयं सकलमपि जगत्कोऽपि भावः पुनीते ॥८२॥

बदले में घोर यातना मुझे सहनी पड़े, अंग प्रत्यंग जल जाए, शरीर खंड खंड हो, नरक में अनन्त काल तक रहना पड़े किन्तु मेरे प्रिय को एक क्षण के लिये भी लेश मात्र भी क्लेश न हो। प्रेम से परिपूरित महानुभावों का यह अद्भुत भाव समस्त जगत को पवित्र कर रहा है॥ ८२ ॥

प्रियतमदुःखदुःखित्वं तद्दुःखसंभावनाऽसह्यत्वं च स्फुटमाचष्टे--घोरेति। अत्र च नारदोदितभगवद्व्याधिप्रतीकारौषधरूपभक्तचरणधूलीर्भगवते दातुकामानां तत्प्रयुक्तनिरयप्राप्तिमुररीकुर्वाणानां गोपिकानां निदर्शनम्। गोपिकानां विरहकाले एव तथा घटना समजायतेति विरहानुभावप्रकरणे पठितम् ॥८२॥

हे नाथाऽऽश्रृणु मेऽन्तिमां पुनरिमामेकां प्रभोऽभ्यर्थनां
काचिद्दार्षद पार्षदप्रतिकृतिस्त्वन्मन्दिरे स्यामहम्।
यस्योन्मीलितलोचनद्वयमभिप्रस्यन्ददश्रूज्ज्वलं
नित्यं निर्निमिषं त्वदीयचरणद्वन्द्वं सदा वीक्षताम् ॥८३॥

हे नाथ! प्रभो! मेरी यह अन्तिम एक प्रार्थना आप स्वीकार करें, आपके मन्दिर में मैं पत्थर की एक पार्षद प्रतिमा बन जाऊ, जिसके नेत्र हमेशा खुले हों, आंसुओं के निरन्तर गिरने से उज्वल हों; इस प्रकार विना निमेष उन्मेष नित्य ही आपके चरण युगल सदा देखा करूँ॥ ८३ ॥

पश्येयमिति स्वस्वरूपस्थस्य प्रियतमदर्शनादिसुखाशोक्ता, सोपानेष्विति रूपान्तरेण। हे नाथेत्यादिना भगवन्निष्ठं यत्स्वीयस्पर्शादिसुखं तद्विषयकनिजाशा। परमाशावस्थामाह—हे नाथेति। आश्रृणु-स्वीकुरु। "ऊरीकृतमुररीकृतमङ्गीकृतमाश्रुतमि"-त्यमरः। यस्येति। प्रतिकृतेर्यत्पदार्थत्वं यस्यां इति युक्तम्। तथापि प्रतिकृतेरचेतनताव्यावृत्तये प्रतिकृतिरूपापन्नस्य यस्य ममेति व्याख्येयत्वाददोषः॥ ८३ ॥

नो दुःखं न सुखं जयादिजनुषौ मानापमानौ न वा
नो मित्रं न रिपुः प्रियाप्रियभवौ नो हर्षशोकावुत ।
नो गेहं न वनं न चैव विषमाः शीतोष्णवर्षातपाः
सन्दग्धं विरहानलेन समतामाप्तं जगत्काननम् ॥८४॥

न दुःख है, न सुख है और न जय पराजय निमित्त मानापमान है; न मित्र है, न शत्रु है और न प्रिय-अप्रिय से हर्ष या शोक है; न घर है, न जङ्गल है और न विषमस्वभाव शीत-उष्ण-वर्षा-धूप ही है। विरह रूपी अग्नि में जल कर सारा जगत् समतल हो गया है ॥ ८४ ॥

विरहानुभावमुक्त्वा संप्रति निर्वाण परमानुभावमाह—नो दुःखमिति ॥८४॥

इति सप्तमं विरहानुभावप्रकरणम् ।

उच्चैरेष कदापि गायति कदाप्युच्चै रवीति क्षणं
किंचिच्च प्रलपन्नसौ विहसति क्रोशत्यथाभाषते ।
केनापीव च सलपन् परिजहात्यश्रूण्युपांशुस्थितः
प्रेमोन्मादनिरस्तलौकिकमतिश्चञ्चूर्यते निस्त्रपः ॥८५॥

यह कभी ऊंचे स्वर में गा रहा है तो कभी रो रहा है। कुछ बकता हुआ सा हंस रहा है फिर गाली दे रहा है और बाद में प्रेम से बोलता है। एकान्त में मानो किसी से बात कर रहा है और आंसू गिरा रहा है। प्रेम के उन्माद में इसने लौकिक ज्ञान को खो दिया है और निर्लज्ज होकर बेढंगे तरीके से चल रहा है ८५ ॥

अधुना प्रेमानुभावप्रकरणमारभते—उच्चैरित्यादि यद्यप्युच्चैरित्यादिश्लोकचतुष्टयी प्रेमविरहोभयसाधरणी एवं पूर्वप्रकरणान्तिमश्लोकोऽपि । तथापि प्रेमविरहयोरनुभावसांकर्यस्येष्टत्वादेव नानुपपत्तिः। नहि विरहः प्रेमाणं विना घटते ।

प्रेमफलत्वेन क्वचित् स्पष्टावभासः। क्वचिद्विरहफलत्वेनेत्येतावन्मात्रेण प्रकरण-भेदकल्पता। गायतीति प्रियं रसिकमिव पश्यन्। रोरवीतीति। प्रियं दुःखिन-मिवोपलक्षयन्। विरहफलतायां तु प्रियं मध्यतस्तिरोदधतमालक्ष्येति व्याख्येयम्। विहसतीति प्रियस्य विलक्षणचेष्टादिकं पश्यन्। क्रोशतीति। विपरीतकार्यादिकं निर्वर्णयन्। आभाषत इति। "स्यादाभाषणमालाप" इत्यमरः। सप्रेम भाषणमत्र विवक्षितम्। संलपन्निति। "संलापो भाषणं मिथ" इत्यमरः। एतत्स्वयमेव। पोषयति केनापीति। सहार्थे तृतीया। अप्रत्यक्षत्वादिवेति। उपांशु रहः। "रहश्चोपांशु चालिङ्गे" इत्यमरः। एतेनैवाकारार्थः पोषितः। प्रेमोन्मादेन निरस्ता लौकिकमतिर्लोकविषयज्ञानं यस्य सः। चञ्चूर्यत इति। यद्यपि "नित्यं कौटिल्ये गतौ" इति कौटिल्यार्थे यङ् विहितः। तथापि कुटिलत्वं दुष्टानामिव नात्र विवक्षितम्। किन्तु विलक्षणगतित्वमात्रमभिप्रेतम्। निस्त्रप इति। निर्भयत्वाद्यु-पलक्षणम्। अत्र कदापीत्याद्युक्त्या लौकिकबुद्धि-प्रियतमभावनयोस्तिलतण्डुल-वत्संमिश्रणेऽपि पृथक् प्रतीत्यनुभाव इत्यादि श्लोकचतुष्टयोक्तभूमिकाभेदमग्रे व्याख्यास्यामः॥ ८५॥

निक्षेप्यौ क्वापि पादौ क्वचिदपि परतो निर्विशङ्कं निधत्ते
गन्तव्यः कोऽपि देशः कमपि च तरसा पन्थयत्यन्यमेव।
कर्त्तव्यं चैव किंचित् किमपि च कुरुते क्षिप्रमेषोऽन्यदेव
निर्लूनस्वावबोधः प्रणयमदिरया कोऽप्यसौ कोऽपि जातः॥८६॥

पैर रखना तो कहीं है, लेकिन अचानक और कहीं रखता है। जाना है अन्यत्र किन्तु झट से और कहीं के लिये रास्ता नाप रहा है। करना है कुछ और, किन्तु एक दम कुछ और ही कर रहा है। प्रणयरूपी मदिरा से मानो अपनी सुध-बुध खो बैठा है और यह कोई का कोई बन गया है॥ ८६॥

क्वचिदपि परतो निर्विशङ्कमिति। प्रियतमैकस्मरणादिति भावः। एव-मुत्तरपादेषु। यद्वाऽन्यत्र पादौ निक्षेप्यौ तावदितः प्रियतम इतीत एव निर्विशङ्कं

पादौ, निधत्ते। गन्तव्य इत्युक्तस्यैव विस्तरः। "पयते वयते विच्छायति पन्थयतीयत" इत्याख्यातकोशे। कर्त्तव्यमिति। गृहादिकर्माणि कुर्वन्नेव भगवत्स्मृतेर्भगवत्तोषार्थमिदं कर्म करोमीति मध्ये गृहीयत्वबोधविच्छेदेन भगवत्तोषकारकत्वेन प्रतीयमानमपरमेव कर्म करोतीत्यर्थः। काचन गोपी गृहमार्जनप्रवृत्ता गृहाद्वहिस्थमेव कच्चरं मार्जयित्वा गृहे प्रक्षिप्तवतीति यथाश्रुतस्योदाहरणम्। शाकानयनार्थं गता काचिद्भगवत्स्मृतेः पुष्पाण्यवचिकायेति व्याख्यातार्थोदाहरणम्। मदिरयेति कृतमदिरापानानां यथाश्रुतः श्लोकार्थः प्रसिद्ध एव। न च प्रणयमदिरयेति हीनोपमा। कविसंप्रदायप्रसिद्धेः॥ ८६॥

वक्तव्यं त्वन्यदेव प्रणिगदति किमप्यन्यदेवास्ययातं
भोक्तव्यं चान्यदेवाभ्यवहरति करायातमेषोऽन्यदेव।
दातव्यं किंचिदन्यत् किमपि करगतं दीयते चान्यदेव
प्रेमप्रावण्यमन्तर्मुखयति जडयत्येव किं वा न विद्मः॥८७॥

कहना है कुछ, और कह रहा है कुछ जो मुंह में आया। खाना है कोई चीज, किन्तु खा रहा है और ही वस्तु जो हाथ में आयी। देना है कुछ, किन्त दे रहा है अन्य वस्तु जो हाथ लगी। यह प्रेममयता मनुष्य को अन्तमुंख बनाती है या जड़ यह समझ में नहीं आता॥ ८७॥

वक्तव्यमित्यादि पूर्ववत्। यथा—विक्रेतुकामा किल गोपकन्या मुरारिपादार्पितचित्तवृत्तिः दध्यादिकं मोहवशादवोचद् गोविन्द दामोदर माधवेति। दातव्यमिति। यथा विदुरपत्नी कदलीत्वचं भगवते ददौ। किं वेति विरोधाभासस्फूर्तिः। बहिर्विषये जडयति भगवद्विषयेऽन्तर्मुखयतीति सामञ्जस्याद् व्यवस्था॥ ८७॥

गच्छत्येष न चावगच्छति परं क्वैव व्रजामीत्यसौ
किंचिच्चैव करोति नैव मनुते किं वा करोमीति च।

ब्रूते किंचन किन्तु नैव विविनक्त्याख्यामि किं न्वित्यहो
न स्वं वेत्ति न वा परं प्रणयिनां केयं दुरूहा दशा ॥८८॥

यह जा रहा है, पर यह नहीं जानता कि मै कहां जा रहा हूं। कुछ कर रहा है लेकिन पता नहीं कि मैं क्या कर रहा हूं। कुछ बोल रहा है किन्तु खुद को मालूम नहीं कि मैं क्या बोल रहा हूँ। न अपने को जान पा रहा है और न दूसरे को। अहो प्रणयियों की यह बड़ी दुरूह दशा है ॥ ८८ ॥

गच्छत्येष इति। पूर्वसंस्कारवशादिति भावः। अत्र उच्चैरेष कदापीत्यत्र कदापीत्याद्युक्त्या तिलतण्डुलवल्लौकिकभगवद्भावनयोः पार्थक्येन मिश्रणमुक्तम्। लौकिकव्यवहारेऽपि भगवद्भावमिश्रणं निक्षेप्यावित्यत्र मण्डतण्डलवदपृथग्भावेन मिश्रणमुक्तम्। करायातमास्यायातमित्याद्युक्त्या वचनभोजनादिकाले लौकिकबुद्धिनिराकरणं संस्कारमात्रावशेषश्च प्रतीयत इति लवणसलिलवदीषदविभागावस्थोक्ता। गच्छत्येष इति च करकसलिलवद्वा क्षीरसलिलवद्वाऽविभागावस्थेति प्रेमभूमिकाभेदेनानुभावभूमिकाभेदोऽवगन्तव्यः ॥ ८८ ॥

द्रष्टव्यं जगतीषु दृष्टमखिलं मन्तव्यमेवं मतं
श्रोतव्यं निखिलं श्रुतं सकलमप्याप्तव्यमाप्तं निजम्।
यस्योन्मीलति लूनलोकविषयानन्ताभिलाषाततिः
प्रेमा क्षामसमस्तमोहमहिमा निर्वाणनिष्प्राणनः ॥८९॥

उसने जगत में द्रष्टव्य सब कुछ देख लिया, सोचने योग्य सोच लिया, पाने योग्य सब कुछ प्राप्त किया, सुनने योग्य सब सुन लिया, जिसका कि अनन्त विध लौकिक अभिलाषा को नष्ट करने, मोह महिमा को क्षीण करने और निर्वाण मोक्ष को निष्प्राण (निस्तब्ध) बनाने वाला प्रेम उदय हो गया ॥ ८९ ॥

एवं मिश्रणावस्था श्लोकचतुष्टयेनोक्ता अधुना प्रेम्णः परमं फलं परमं स्वरूपं वा वक्तुं परमानुभावमाहाऽऽप्रकरणसमाप्ति द्रष्टव्यमित्यादि। इयमेव कृतकृत्यावस्था वेदान्तशास्त्रेषु गीतासुच शतश उद्दिष्टा। लूनेति। लूना उच्छिन्ना लौकिकानन्ताभिलाषाततिर्येन स प्रेमा। क्षामः, क्षै क्षये ततः क्तः, समस्तो मोहमहिमा येन स परिक्षीणमोहान्धकारः। निर्वाणं निष्प्राणयतीति तथा तेन निर्वाणाभिलाषाया अपि राहित्यं विवक्षितम्। निर्वाणमपि सालोक्यादिरूपं भेदघटितं बोध्यम्। आत्मस्वरूपमोक्षस्य निष्प्राणनासंभवात्। परमात्मेच्छायाः प्रेमरूपत्वादिति द्रष्टव्यम् ॥ ८९ ॥

गन्तव्यं हि तदेव गन्तुरयनं तद्ध्येव निष्कण्टकं
पाथेयं च तदेव मध्यसरणौ मित्रं तदेवोत्तमम्।
प्राप्तव्यं च फलं तदेव गमनात्तद्वासवस्त्यं शुभं
प्रेमेदं परमाद्भुतं जगति यत् सर्वात्मना संस्थितम् ॥९०॥

इस प्रेमपथ में चलने वालों के लिये गन्तव्य स्थान प्रेम ही है। निष्कटंक मार्ग भी प्रेम ही है। मार्ग मध्य में परम मित्र भी प्रेम ही है। उस गमन से प्राप्तव्य फल भी प्रेम ही है। निवास गृह भी प्रेम ही है। इस जगत में यह प्रेम ही एक ऐसा है कि मार्गादि सब कुछ वही है ॥९०॥

साध्यसाधनादिसकलभेदोपमर्देनाह–गन्तव्यमिति। प्रेमपथे गन्तुः। अयनं = मार्गः। प्राप्तव्यं स्थानमिति भ्रमवारणामाह–फलमिति। पूर्वश्लोके भूतपूर्वगत्या साध्यसाधनावभासः। अत्र तु भूतपूर्वगत्यापि नास्तीति विशेषः ॥ ९० ॥

सौगन्ध्यं कुसुमेषु तन्मयहृदः स ह्येव तोये रसः
तेजश्चैव विभावसौ हिमकरे चाह्लादिनी दीधितिः।
सत्त्वं सत्त्ववतां च धीश्च सुधियां तेजश्च तेजस्विनां
यच्चोद्दीपनमत्र सर्वमपि तत् प्रेयःप्रसारः सताम् ॥९१॥

जिन संतों का हृदय प्रियतम में तन्मय हो गया है उनके लिये पुष्पों में सुगन्धि, जल में रस, सूर्य में तेज, चन्द्र में आह्लादकारी प्रभा, बलवानों में बल, बुद्धिमानों में बुद्धि, तेजस्वियों में तेज और जो कोई भी जगत में उद्दीपन है सभी प्रियतम का प्रसार ही हो जाता है ॥ ९१ ॥

पूर्वश्लोकद्वयेन लौकिकसाधनविरहावस्था प्रोक्ता। किन्तु साध्यीभूतप्रेम्णः प्रेमास्पदव्यक्तिविशेषपरिच्छिन्नतया संभावितविरहदुःखव्यतिकरता प्रतीयते। सा तत्पूर्वश्लोकचतुष्टयसूचितभूमिकासु च स्फुटा। अधुना प्रेयसो व्यापकत्वापादनेन विरहसंभावनां विघटयन्नत्र सर्वत्र कृतकृत्यतां प्रापयति सौगन्ध्यमिति। "रसोऽहमप्सु कौन्तेये" त्यादिना सप्तमे भगवता यथोक्तार्थः स्पष्टमुदीरितः। प्रेमवतां पुनः प्रेम्णा तद्वचनुभवपथवारोहति। यथा कांचन गोपीं पुरस्कृत्याह—"कदाचिदेका ललना वनान्तेऽसितं चरन्ती दृषदं ददर्श। भवत्पदानुस्मरणानुविष्टा तमेव देवेत्य समालिलिङ्ग" त्यदि। प्रेमोत्कर्षे सौगन्ध्यादौ च प्रियभावना स्यात्। असितप्रस्तरे श्यामलतासामान्यवत् सौगन्ध्यादावुत्कर्षसामान्याद। यत्किंचित्सामान्येनाप्याह— सत्त्वं सत्त्ववतामति। किं बहुना लेशसामान्यादपीत्याह-यच्चोदीपनमिति। एतेन सर्वो विभूतियोगाध्यायोपि व्याख्यातः। सर्वमपीत्यावर्त्तनीयम्। तथा च "अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेने" त्यपि व्याख्यातम्। अथवा इयं भूमिकोत्तश्लोकयोर्द्रष्टव्या ॥ ९१ ॥

शब्दः सश्रवणो न्यलीयत बलात् कृष्णाह्वयं शृण्वतो
रूपाण्यप्यखिलानि तत् सह दृशा नीलं महः पश्यतः।
विश्वं मे समनोऽखिलं कलयतः सौन्दर्यसारं परं
वेदान्तोक्तलयव्यतिक्रममयं को वा करोत्यान्तरः ॥९२॥

कृष्ण नाम जब मैंने सुना तो श्रोत्रेन्द्रिय के साथ सभी शब्द विलीन हो गये। उस नील ज्योति को देखने लगा तो नयनों के साथ सभी रूप गायब हो गये। उस सौन्दर्य सार को सोचने लगा तो मन सहित सारा विश्व गायब हो गया। आश्चर्य है

कि यह कौन ऐसा है जो कि अन्दर बैठकर वेदान्तशास्त्रोक्त लयक्रम का व्यतिक्रम कर रहा है ।। ९२ ।।

सौगन्ध्यं कुसुमेष्वित्यादावाधाराधेयभावप्रयुक्तभेदवासनया विघटिता निरङ्कुश-प्रेय:प्रसारतेति साध्यसाधनाधाराधेयभावादिसमापन्नीं भूमिकामाह–शब्द इति। शब्दः श्रवणेन सह । अत्र श्रवणं श्रोत्रमाकर्णनं च । न्यलीयत दृशा दर्शनेन नेत्रेण च । मनोवृत्तिर्मननमिति मनःपदमुभयपरम् । तथा च सर्वत्र त्रिपुटीलयो विवक्षितः ।।९२।।

शब्दस्तस्य रवो गतः श्रुतिपथं स्पर्शोऽपि तस्याखिलो
रूपं तस्य दृगन्तगं मुखगतं तस्याननाऽऽचुम्बनम् ।
गन्धो घ्राणगतश्च तस्य न पुमानन्यच्छृणोति स्पृश-
त्याहो जिघ्रति वीक्षते रसयते तस्मिन् परप्रेमणि ।।९३।।

श्रोत्रागत सभी शब्द प्रियतम का ही शब्द हो गया। शरीरागत सभी स्पर्श प्रियतम स्पर्श हो गया, नेत्रागत सभी रूप प्रियतम रूप हो गया मुखागत सभी प्रियतम चुम्बन हो गया, घ्राणागत सभी गंध प्रियतम गंध हो गया। परम प्रेमावस्था में प्रेमी अन्य कोई वस्तु न सुनता है न छूता है, न देखता है, न चखता है, न सूंघता है ।। ९३ ।।

कृष्णाह्वयं शृण्वत इत्यादिना कृष्णनामादि-श्रवणादिकाले शब्दान्तरतच्छ्रवणा-दिकं विलीयत इत्युक्तं, तेन तदश्रवणादिकाले शब्दान्तरादिसत्त्वमस्तीति प्रतीयते । तदपि विघटयन्नाह–शब्द इति । तस्य = तस्यैव । श्रुतिपथं गत इति । सर्वोऽपि शब्द इत्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि दृगन्तगमित्यादेर्व्याख्या। तस्याननाचुम्बनम् = आचुम्ब्यमानतदाननमिति यावत् । न पुमानन्यच्छृणोतीत्यादि । "यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोती" त्यादिश्रुतिरत्र द्रष्टव्या ।। ९३ ।।

नास्मादुद्विजते जगन्न जगतश्चोद्वेगमाप्नोत्यसौ
नैव द्वेष्टि न चापि हृष्यति न वा कस्मिंश्चिदासज्जते ।

हर्षामर्षभयादिघोरजटिलग्राहालयादुत्थितः
सर्वं प्रेममहीध्रमूर्धशिखरारूढः समं पश्यति ।।९४।।

ऐसे प्रेमी से कोई उद्वेग को प्राप्त नहीं होता और वह प्रेमी भी किसी से उद्विग्न नहीं होता। न वह किसी से द्वेष करता है और न हर्षित होता है या किसी में आसक्त ही होता है। हर्ष, क्रोध, भय इत्यादि भयंकर दुर्धर ग्राहों के आलय समुद्र से उठकर प्रेमरूपी पहाड़ के शिखर पर चढ़ा हुआ वह प्रेमी सम्पूर्ण जगत को समता से देखता है ॥ ९४ ॥

शब्दस्तस्येत्यादिना परप्रेमानुभावभूमिका प्रोक्ता। नातः परा भूमिकास्ति। इत्थं च 'तस्मिन् परप्रेमणी' ति साकूतमेव। ततश्च तस्या एवायमुत्तरः फलाद्यात्मकः प्रपञ्चः—नास्मादित्यादि। "यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च य" इत्यादिना द्वादशाध्याये दर्शिता अनुभावा अत्र संक्षिप्योक्ताः द्रष्टव्याः। ग्राहालय इति समुद्राभिव्यक्तिः। प्रेममहीध्रे ति। तथा चाहुः—'प्रज्ञाप्रासादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान्। भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यती'' ति। प्रज्ञाप्रेम्णोः सामान्यं बोध्यम्। सामान्येन गीतादौ प्रतिपादनात्। "भक्तौ ज्ञाने न भेदोऽस्ती"-त्यादि शिवपुरणवचनाच्चे ॥ ९४ ॥

नो माता न पिता न बान्धवजना नैवापि लोका मखा
नो तीर्थं न तपो व्रतं न च विधिर्नो वा निषेधः श्रुतः।
प्राप्तः सप्तमभूमिकामिव परां वेदान्तदिष्टामयं
नादत्ते न जहाति वाप्यपिगतः प्रेमाम्बरे किंचन ।।९५।।

न माता है, न पिता है, न बन्धुजन है, न लोक है, न यज्ञ है, न तीर्थ है, न तप है, न व्रत है और न कोई शास्त्रीय विधि या निषेध ही है। मानो कि वेदान्तोक्त सप्तम भूमिका को यह भक्त प्राप्त हो गया है। प्रेम रूपी आकाश में विलीन हो कर यह न कुछ ग्रहण करता है और न कुछ छोड़ता ही है ॥ ९५ ॥

नो मातेत्यादि । सर्वस्य भगवद्रूपत्वेन न भेदभाव इति भावः । "न माता पिता वा न लोका न यज्ञा" इत्यादिभगवत्पादवचनानुसारेण लोकमखाद्युक्तिः । मातेत्याद्यैहिकम् लोका इति स्वर्गादि । मखाद्यास्तत्साधनीभूताः । नादत्त इत्यादि । न हि गगनं किंचिदुपादत्ते जहाति वा । एवं सप्तमभूमिकास्थोऽपि । प्रेमाम्बरे लीनः प्रेमाकाशरूपापन्न इति युक्तं न गृह्णाति त्यजति वेति ।। ९५ ।।

नैवास्यागमचोदिताः सदुदिता वर्णाश्रमादेः प्रथा
न स्नानाचमनासनाभिवदनस्तोत्रार्चनाद्याः क्रियाः ।
प्रेमालोकनिरस्तसर्वनियमं प्रत्युत्थितं लोकतो
धीरं कोऽपि चिकेत्ति नास्तिकमवैत्येकास्तिकं कोपि च ।।९६।।

प्रेमी भक्त के लिये न तो आगमोक्त वर्णाश्रमविस्तार है, और न स्नान आचमन, आसन, नमस्कार, स्तुति, अर्चन आदि क्रिया ही है। प्रेमरूपी प्रकाश से समस्त नियमों को पारकर एवं लोक से परे उठकर धैर्य से स्थित इसे कोई नास्तिक समझ रहा है तो कोई ऐकान्तिक आस्तिक देख रहा है ।। ९६ ।।

नंवेति । अस्य = प्रेमवतः । प्रेमालोकेत्याद्युत्तरस्मात् । आगमचोदिताः=वेद-चोदिताः । सदुदिताः—मन्वाद्युक्ताः । प्रथाः—विस्ताराः । कथं ? तदाह—न स्नानेत्यादि । आलोकनिरस्तेत्यनेन निगमस्य ध्वान्तत्वं ध्वनितम् । तच्च वेदान्तेषु स्फुटम् । तथा च भक्ताः—"सन्ध्यावन्दन भद्रमस्तु भवते भो स्नान तुभ्यं नमः" इत्यादि । लोकतः = ब्रह्मलोकपर्यन्तात् लौकिकजनेभ्यो वा । प्रत्युत्थितमुपरिगतम् । लोकैषणायाश्च व्युत्थायेतिश्रुतेः । एवं विधं धीरं भक्तं कश्चित् वेदवादरतो नास्तिकं चिकेत्ति जानाति । वेदोक्ताननुष्ठानलक्षणवेदनिन्दाकारित्वं मन्वानः सन् । तथा कोऽपि च भक्तस्तमेव "तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनामि"ति भगवदुक्तिमाद्रियमाणं परमभागवतत्वादेकास्तिकमेकश्चासावास्तिकश्चैकास्तिकस्त-मवैति ।। ९६ ।।

इति प्रेमानुभावप्रकरणम्

प्रेमैवावेदिषुर्निर्वृतिकरममृतं दिव्यसौन्दर्यसारं
सौस्वर्यं सौकुमार्यं परमरसपदं दिव्यसौरभ्यतत्त्वम् ।
औदार्यैश्वर्यशौर्यप्रथिममधुरिमस्थेमसामक्षमाद्यं
सर्वं प्रेमैव पूर्णं दिवि भुवि च परानन्दमात्रावलम्बम् ॥९७॥

परम शान्तिदायी अमृत स्वरूप प्रेम ही दिव्य सौन्दर्य सार है। सुस्वर, सुकुमारता, सुस्वाद, सुगंध यह सब प्रेम ही है। औदार्य, ऐश्वर्य, शौर्य विस्तार, माधुर्य, स्थैर्य, शान्ति, क्षमा इत्यादि भी प्रेम ही है। स्वर्ग या भूतल में जो भी परमानन्द का अवलम्बन है वह सब भी प्रेम ही है ॥ ९७ ॥

एतावता प्रबन्धेन प्रेम–तत्स्वरूप-तत्साधन, विरह, तदुभयानुभावादिकं निरूपितम् । अधुना प्रेमसिद्धान्तरहस्यं संक्षेपेणान्तिमप्रकरणेन निराह–प्रेमैवेत्यादिना । अक्षरार्थस्तु प्रायो व्याख्यातचरः । पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसावित्यादिप्रमाणतः स्वानुभवाच्च दिव्यसौन्दर्यादेर्भगवदभिन्नप्रेमस्वरूपत्वं बोध्यम् । विस्तरः कादम्बिन्याम् ॥ ९७ ॥

प्रेम्णा वाति समीरणो रविरयं प्रेम्णाम्बरे दीप्यते
प्रेम्णा भाति निशापतिर्ज्वलति च प्रेम्णा कृशानुः स्वयम् ।
प्रेम्णा वर्षति चञ्चदञ्चिततडिद्वल्लीककादम्बिनी
सर्वं च प्रकृतेर्विलासमविदुः प्रेम्णः फलं पुंस्पृशः ॥९८॥

प्रेम से ही यह हवा चल रही है, प्रेम से सूर्य प्रकाशित हो रहा है, प्रेम से चन्द्रमा शोभित हो रहा है, प्रेम से अग्नि स्वयं जल रही है, चंचल एवं मनोहर लता सदृश बिजली से शोभायमान मेघमाला प्रेम से पानी बरसा रहे हैं। प्रकृति का यह समस्त विलास पुरुष विषयक प्रेम का ही फल है ॥ ९८ ॥

अथ सांख्यमतानुसारेण प्रेमाणं निदर्शयति—प्रेम्णेति । निगदव्याख्यातम् । प्रकृतेः पुंस्पृशः प्रेम्णः फलमिदम् । तथा हि पुरुषस्य भोगमोक्षसिद्धये प्रकृतिः प्रवर्त्तत इति सांख्यवृद्धाः । यद्यपि प्रकृतेरचेतनत्वान्न तत्र प्रेम्णः संभावना तथापि प्रेमवृत्तिविशेषस्तत्र संभवत्येव । मनोबुद्धयादेः प्राकृतत्वात् । प्रेमवृत्तेश्च मानसिकत्वात् । तत्र चैतन्यसंयोगाद् "अचेतनं चेतनावदिव लिङ्गमि"ति तावतैव प्रवृत्त्युपपत्तेः । तत्प्रवृत्तेश्च वातवानादिरिति ॥ ६८ ॥

संयुज्यन्ते भुवनभवनायाणवः प्रेमहेतो-
भ्राम्यन्त्यन्ये विरहचलिताः सन्ततं तत्समन्तात् ।
आकृष्यन्ति द्युमणिकुमुदक्षोणयोऽन्योन्यमेते
सर्वं वर्वर्त्त्यनुगतपरप्रेमपाशानुबद्धम् ॥९९॥

जगत की उत्पत्ति के लिये ये परमाणु प्रेम के ही कारण संयुक्त हो रहे हैं। विरह से विचलित होकर कुछ अणु उन अणुओं के चारों ओर निरन्तर भ्रमण कर रहे हैं। सूर्य चन्द्र पृथ्वी आदि प्रेम ही के कारण परस्पर आकर्षण कर रहे हैं। सारा जगत ही प्रेम पाश में बंधकर प्रवर्तित हो रहा है ॥ ९९ ॥

सांख्यमतेनोक्त्वा नैयायिकाधुनिकवैज्ञानिकादिमतेनाह—संयुज्यन्त इति । नन्वणवोऽचेतनत्वान्न प्रीणीयुरिति चेन्न । देवदत्तः प्रीणातीत्यत्रापि शरीरार्थकदेवदत्तपदार्थे तुल्यत्वात् । आत्मविशिष्टदेहः प्रीणाति चेत्परमात्मविशिष्टाणवोऽपि तथा । उदयनाचार्यैरणूनां परमात्मशरीरत्वोपगमाच्चेत्यन्यत्र विस्तरः । भ्राम्यन्तीति । घनाणून् परितो भ्राम्यन्त्यणाणवः । ननु न प्रेमप्रयुक्तं तद्भ्रमणं तथा सूर्यचन्द्रपृथिव्याद्याकर्षणमपि । किन्तु स्वाभाविकमिति चेन्न । प्रेमलक्षणेश्वरस्य सर्वव्यापकत्वात्तत एवाकर्षणाद्युपपत्तेरास्तिकैरन्यथाकल्पनप्रयासवैयर्थ्याद ॥ ९९ ॥

अत्युच्चैर्विपिनस्थलीषु सुमनोभूषाः सचन्ते द्रुमा
सान्द्रश्यामपलाशपर्णमसृणाः कल्लोलयन्ते लताः ।

मुक्तामञ्जुलशुभ्रनिर्मलजलाः स्यन्दन्ति नद्योऽचलाद्
मत्प्रेम्णा प्रकृतिः स्वयं सपुलका नित्यं नरीनृत्यते ॥१००॥

जंगलों में पुष्पों से शोभित ऊँचे वृक्ष घनीभूत होकर परस्पर प्रेम से मिल रहे हैं। सान्द्र श्यामवर्ण पत्तों से सुहावनी लतायें प्रेम से लहरा रही हैं। मोती के सदृश सुन्दर स्वच्छ निर्मलजल से कल्लोलित झरणें पहाड़ों से प्रेम से झर रही हैं। मेरे प्रेम से स्वयं प्रकृति पुलकित प्रेम मग्न होकर नित्य ही सुन्दर नृत्य कर रही है ॥ १०० ॥

आत्माद्वैतमतेनाह—अत्युच्चैरिति। इदं द्रुमविशेषणम्। सचन्ते=परस्परं सम्मिलिता भवन्ति। "सेवने सचते तद्वत् समवाये सचत्यपी" ति भट्टमल्लः। घनीभूता वृक्षा अलिङ्गन्त इव परस्परं संलपन्त इव समवेता दृश्यन्ते। सान्द्राणि श्यामानि पलाशानि च पर्णानि तैर्मसृणाः। "पलाशः किंशुकेऽप्यपे हरिते" इति हैमः। तथा च क्वचिच्छ्यामपर्णानि क्वचिद्धरितपर्णानीति विविच्य द्रष्टव्यम्। "मसृणोऽकर्कशे स्निग्धे" इति विश्वः। मत्प्रेम्णेति। पुंस्प्रेम्णेति वक्तव्ये मत्प्रेम्णे-त्युक्तिः सर्वस्य पुंसो मत्स्वरूपत्वलक्षणाद्वैतसिद्धान्तस्फोरणाय। नरीनृत्यत इति। "रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्त्तते नर्त्तकी यथा नृत्यादि" त्येवमीश्वरकृष्णेनौपम्य-प्रदर्शनात्। प्रेमवतो भक्तस्य सर्वत्र प्रेमविलासावलोकनमेतत् ॥ १०० ॥

गायत्युत्पुलकं पिकीकलरवैराकीर्णभृङ्गस्वरै-
रेषोन्मेचकबर्हबर्हिणगणारम्भैः पुरो नृत्यति।
उद्यच्चञ्चलचञ्चलाकजलदध्वानैर्हसत्युच्चकै-
रानन्दं प्रकृतिस्तनोति परमप्रेम्णा विलासैर्निजैः ॥१०१॥

भ्रमरों के स्वरतान के साथ कोयलों के कलरव (मधुरगीत) से पुलकित हुई यह प्रकृति गायन कर रही है; पंखों को ऊपर फैलाकर नाचते हुए मयूरों की चेष्टा से संमुख नृत्य कर रहो है; चमकती हुई चंचल बिजली

से शोभायमान मेघों के गर्जन से ऊंचा हँस रही है। यह प्रकृति प्रेम के उद्रेक से अपने विलासों के द्वारा आनन्द बढ़ा रही है ॥ १०१ ॥

मतविशेषमनुपादायैवोक्तार्थमेव व्यक्तीकरोति–गायतीति। उद्गतपुलकं यथा स्यात्तथा गायति। ननु प्रकृतेः कण्ठस्वरादिविरहात्कथं गानं तत्राह—पिकीकलरवैरिति। प्रकृत्यन्तर्गत एव पिकादिरित्युपपत्तिरपि। भृङ्गस्वरैर्लयतानस्थानीयैः। एषा प्रकृतिरिति सम्बन्धः। उद्गता मेचकाश्चन्द्रका ये नेत्राकारमयूरपुच्छाग्रीयभागा येषां तानि बर्हाणि येषां तेषां बर्हिणानां मयूराणामारम्भैर्नृत्यलक्षणैः पुरो नृत्यति। मेघगर्जनेनाट्टहासः। सर्वे उद्भास्वरानुभावाः ॥ १०१ ॥

वनं रम्यं सालैर्मृदुकिसलयैर्याति नवता-
मिदं सुस्रोतोभिर्नवजलधरैश्चापि सलिलम्।
प्रसूनैः प्रत्यग्रैः सुरभिपवनश्चेत्यनुपलं
परप्रेम्णा पुंसः प्रकृतिरखिला याति नवताम् ॥१०२॥

वृक्षों के मृदुल पल्लवों से रमणीय होकर यह वन निरन्तर नवीन हो रहा है; सुन्दर स्रोतों से तथा नवीन मेघों से जल भी सतत ताजा हो रहा है; परमपुरुष के प्रेम से संपूर्ण प्रकृति ही अनवरत नव-नव हो रही है ॥ १०२ ॥

"प्रतिक्षणं यन्नवतामुपैयात्तदेव रूपं रमणीयतायाः" इति कविभिरुक्तं प्रकृतौ साधयन् रमणीयत्वप्रयोगकतया प्रेमाणमपि गमयति वनमिति द्वाभ्याम्। सालैर्वृक्षैर्मृदूनि किसलयानि येषां तैः रम्यं सन्नवतां याति विशेष्यावृत्तिर्विशिष्टवृत्तिधर्मो विशेषणमुपसंक्रामतीति मृदूनां किसलयानामेव नवताप्रयोजकत्वं मन्तव्यम्। सलिलमिति। नवतां यातीत्यनुकर्षः। एवं सुरभिपवनश्चेत्यत्रापि। अनुपलमनुक्षणम्। पुंसः=पुंविषयकेण। अखिला वनजलादिलक्षणा। न तु मूलप्रकृतिः। अखिलेत्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः। वनादिषु प्रकृतित्वव्यवहारो लौकिकः। अकृत्रिमे प्राकृतिकदृश्यत्वव्यवहारात् ॥ १०२ ॥

प्रेम्णा रसं नवनवं प्रकृतिः करोति
प्रेम्णाभितो नवनवं सुरभिं तनोति ।
प्रेम्णा निजं नवनवं वितनोति रूपं
प्रेम्णा प्रतिक्षणमियं परिणाममेति ॥१०३॥

प्रेम ही से प्रकृति नव-नव रस का निर्माण कर रही है, प्रेम ही से चारों ओर नव-नव सुगंधि फैला रही है, प्रेम ही से अपना नया नया रूप दिखा रही है, प्रेम ही से यह प्रतिक्षण परिणाम को प्राप्त हो रही है ॥ १०३ ॥

प्रेम्णेति । पुरुषविषयकेणैव । रसं फलादौ । प्रकृतिरिति व्याख्यातार्थम् । अभितः परितः निजं रूपमिति । वनाद्यवच्छेदेन तत् सार्वलौकिकम् । फलितमाह–प्रेम्णा प्रतिक्षणामियं परिणाममेतीति । इत्थं च प्रतिक्षणपरिणामित्वमपि प्रकृतेः प्रेमप्रयुक्तमेवेति भावः । ननु पुरातनरूपेणापि प्रकृतेः परिणामो भवति । स किं प्रयुक्त इति चेत् । विरहप्रयुक्त इत्यस्तु । दृश्यते हि लोकेऽपि विरहेण मुखमालिन्यादिपरिणामः । तत्र विरहप्रयुक्तस्यापि परम्परया प्रेमप्रयुक्तत्वमस्त्येवेति विरहप्रकरणे प्रागुक्तमेव । तथा च सुष्ठूक्तं–प्रेम्णा प्रतिक्षणमियं परिणाममेतीति ॥ १०३ ॥

स्वाध्ययान् समधीयते सविधि सत्प्रेम्णा सुखं वर्णिनः
प्रेम्णामी गृहमेधिनो विदधते वैश्वाभिधानां बलिम् ।
संचिन्वन्ति तपः परं वनगतास्तिष्ठन्ति च ब्रह्मणि
प्रेम्णामी यमिनश्च विश्वमखिलं वर्वर्त्त्यहो प्रेमणि ॥१०४॥

ब्रह्मचारी प्रेम के कारण विधिसहित वेदों का सानन्द अध्ययन कर रहे हैं, गृहस्थ प्रेम के कारण वैश्वबलि कर रहे हैं, वानप्रस्थ प्रेम से ही तप का संचय कर रहे हैं संन्यासी प्रेम से ही ब्रह्मनिष्ठ हो रहे हैं। अहो संपूर्ण जगत ही प्रेम के आधारित होकर कार्य कर रहा है ॥ १०४॥

एवं प्रकृतेः प्रेमवत्त्वमुक्त्वा पुरुषस्यापि प्रेमवत्त्वं क्रियामात्रस्य प्रेमप्रयुक्तत्वं चाह–स्वाध्यायानिति। न च दण्डादिभयादपि केषांचिद्वर्णिनामध्ययनप्रवृत्तिरिति-वाच्यम्। तावताप्यात्मप्रेमप्रयुक्तताया दुर्वारत्वात्। आत्मप्रेम्णा हि दण्डादि-दुःखद्वेषः ॥ १०४ ॥

नयति नयनं प्रेम्णा प्रेम्णा शृणोति रवं श्रवो
रसयति रसं प्रेम्णा प्रेम्णा मनः समुदीक्षते।
अभिवदति वाक् प्रेम्णा प्रेम्णाऽऽददाति तथा करः
सकलमपि च स्वेषु प्रेम्णा पदेष्वभिवर्तते ॥१०५॥

नयन प्रेम से मार्गदर्शन करा रहा है (देखता है), कान प्रेम से ही शब्द सुन रहा है, रसना प्रेम से ही रसानुभव कर रही है, वागिन्द्रिय प्रेम से ही बोल रही है, मन प्रेम से ही चिन्तन कर रहा है, हस्त प्रेम से ही ग्रहण कर रहा है, सभी अपने अपने विषयों में प्रेम से ही प्रवृत्त हो रहे हैं ॥ १०५ ॥

एवं प्रकृतेः पुरुषस्य च प्रेमवत्त्वं व्याख्यायोभयप्रेम दर्शनस्थानमाह–नय-तीत्यादि। इन्द्रियाणां प्राकृतिकत्वात्पुरुषसांनिध्यप्रवृत्तिकत्वाच्चोभयप्रेम तत्राव बुध्यते। रसयतीति सांनिध्याद्रसना। समुदीक्षते संकल्पयति। "संकल्पयति संकल्पेऽभिसन्धत्त उदीक्षत" इति आख्यातकोशे भट्टमल्लः। तथा कर इति शेषसर्वेन्द्रियोपलक्षणम्। तदाह–सकलमपीति। सकलमिन्द्रियजातं स्वेषु पदेषु विषयेषु अभिवर्त्तते सांमुख्येन वर्त्तते। नन्वनिष्टविषयदर्शनश्रवणादिदं न प्रेम्णेति चेन्न। पुरुषस्यानिष्टत्वेऽपि इन्द्रियाणि प्रेमस्वभावादेव सर्वत्र प्रवर्त्तन्ते। नन्वनिष्टवस्तुश्रवणादिकं पाप्मवेधप्रयुक्तमिति श्रुतिषु वर्णनात् पापप्रयुक्तं न तु प्रेमप्रयुक्तमिति चेन्न। अनिष्टवस्तुषु पापेन प्रवर्त्यन्ते। प्रेमस्वाभाव्येनेष्टवस्तुषु। अत्र स्वाभाव्यकथनमित्यदोषः ॥ १०५ ॥

प्रेमा कोऽपि जयत्ययं विभुरपि स्वान्तैकसंस्थः सतां
दिक्कालादिरवच्छिनत्ति न परं दुष्प्रापमप्येव यम् ।
दूरस्थोऽपि निरन्तरः प्रियतमः कालान्तरस्थोऽपि च
प्रत्यक्षं पुर ईक्ष्यतेऽमृतरसं यस्मिन्नभिष्यन्दति ॥१०६॥

विभु (व्यापक) होने पर भी जो सत् पुरुषों के हृदय मात्र में स्थित है, अत्यन्त दुष्प्राप्य होने पर भी जिसका देश और काल का दायरा नहीं है जो अमृतरस बरसाते हुये दूर देशस्थ तथा दूरकालस्थ भी प्रियतम को संमुख दिखाता है ऐसे अद्भुत प्रेम की जय हो ॥ १०६ ॥

एवं प्रेम्णो रहस्यं दर्शयित्वोपसंहारार्थं रहस्यवचनेनैवानूद्योपदर्शयति–प्रेमा कोऽपीति । अयं = पूर्वग्रन्थोपवर्णितः । विभुत्वे कथं सत्पुरुषस्वान्तमात्रस्थत्वमिति विरोधः । दिक्कालाद्यनवच्छिन्नस्य सर्वदेशकालवर्त्तिनः कथं दुष्प्रापत्वमिति विरोधः । प्रादुर्भावापेक्षया विरोधपरिहारः । दूरदेशकालस्थः कथं निरन्तरः प्रेम्णापीक्ष्येतेति विरोधः । मानसप्रत्यक्षतयापरिहारः । एतच्च लौकिकप्रियतमविषयम् । परमात्मनि दूरदेश कालस्थत्वासंभवात् । तत्र वैकुण्ठदृश्यत्वमुक्तिकालदृश्यत्वादिकमादाय व्याख्येयम् ॥ १०६ ॥

स्वर्गे पातभयं क्रियादिषु विधेर्वैकल्यहेतोर्भयं
राज्ये शत्रुभयं कृषौ कृमिशकुन्युत्पातकादेर्भयम्
वाणिज्ये क्षतितो भयं प्रतिभयं सेवासु मन्तोर्भयं
सर्वं चैव भयावहं भुवि हरेः प्रेमैकमेवाभयम् ॥१०७॥

स्वर्ग में पतन का भय रहता है, वैदिक कर्मों में विधि वैकल्य का भय, राज्य में शत्रु का भय, कृषि में कृमि पक्षी आदि उत्पातकारियों से भय, व्यापार में नुकसान का भय, सेवा में अपराध का भय इस प्रकार सब में भय रहता है। एक हरि प्रेम ही सर्वथा निर्भय है ॥ १०७ ॥

परमपुरुषार्थविधयोपक्रान्तं प्रेम। तत्र परमत्वमधुना स्पष्टीकरोति–स्वर्ग इति। प्रथमपादे वैदिककर्मणां ब्राह्मणप्रधानत्वात्तत्कर्मफलयोः परमत्वप्रतिक्षेपः। राज्ये शत्रुभयमिति क्षात्रकर्मतत्फलपरमत्वप्रतिक्षेपः। कृषावित्यादिना वाणिज्य इत्यादिना च वैश्यकर्मतत्फलपरमत्वप्रतिक्षेपः। सेवास्विति शूद्रकर्मतत्फलपरमत्वप्रतिक्षेपः। सर्वैर्ब्रह्मणादिभिर्भगवत्प्रेमैवाभयार्थमाश्रयणीयमिति तात्पर्यम्। प्रतिभयमुग्रम्। "भयंकरं प्रतिभयं रौद्रं तूग्रममी त्रिषु" इत्यमरः। उक्तानुक्तसकलसंग्रहार्थमर्धचतुर्थपादः। परमं सिद्धान्तमाह–प्रेमैकमेवाभयमिति। अत्र टिप्पणीकृत्। वैराग्यमेवाभयमितिभर्तृहरिवचनप्रतिद्वन्द्वितार्थमिवेदमिति। नत्वत्र प्रतिद्वन्द्विता वस्तुतः इत्याशयेनैवकारः। रागलक्षणप्रेमा हि वैराग्यविरोधीत्याभासः। वस्तुतो हरिप्रेमैव जगतो वैराग्यं नाम। असति जगद्वैराग्ये पूर्णभगवत्प्रेमायोगात्। वक्ष्यति च तृतीयस्यां–"राग विरागं कथयन्ति सन्त" इति। एतदुक्तं भवति भगवत्प्रेमैव जगद्वैराग्यमविनाभावित्वादिति। एतेन वेश्यावशीभूतविप्रनारायणोदाहरणेन विनापि वैराग्यं भगवत्प्रेमसंभावनां कुर्वन्तः परास्ताः। विस्तरः कादम्बिन्यां दर्शनीयः॥ १०७॥

यस्मिन् बुद्बुदवत्तरङ्गततिवच्छृङ्गारशान्तादयो
व्युत्तिष्ठन्ति लयं प्रयान्ति च रसा यः केवलोऽपि स्थितः।
निस्तिर्णाखिलदुःखसंप्लवममन्दानन्दबोधाम्बुधिं
वन्दे मङ्गलविग्रहं तमनिशं प्रेमाणमीशं हरिम्॥१०८॥

जिस प्रेम सागर में शृंगार-करुणादि रस बुद्बुदों के या तरंगों के समान उठते हैं और लीन भी होते हैं तथा जो कभी शृंगारादि रस तरंगों के विना केवल रूप से भी रहता है; अशेष दुःख-उत्पातों से रहित परिपूर्ण आनन्द एवं ज्ञान के सागर मंगल कलेवर प्रेमस्वरूप उस ईश्वर हरि की मैं निरन्तर वन्दना करता हूं॥ १०८॥

एवं परमपुरुषार्थतयोपक्रान्तस्य प्रेम्णः परमत्वं स्पष्टीकृत्य तदभिन्नतया भगवन्तं तत्स्वरूपप्रदर्शनपुरःसरं मङ्गलरूपेण प्रणमति–यस्मिन्निति। शृङ्गारशान्तादय इति। शृङ्गारादयः शान्तादयः इत्यर्थः। अत्र भूवादयो धातव इति सूत्रं वासदशा भ्वादय

इत्यर्थवत् शान्तसदृशाः शृङ्गारादय इत्यर्थः । तेन बीभत्सादेः परिहारः । ननु "नवरसमिलितं वा केवलं वा पुमर्थम्" इति श्रमिन्मधुसूदनसरस्वतीभिर्नवानामपि ग्रहणाच्छान्तपदमनर्थकमिति वाच्यम् । तत्र नवत्वसंख्याया अन्यथैव पूरणीयत्वात् । नवनवरसमाधुरीधुरीणा इत्यत्रैव नूतननूतनार्थकत्वाद्वा । तैरेव स्वग्रन्थेऽग्रे बीभत्सरसादेर्भक्तित्वनिरासात् । मल्लानामशनिरितिश्लोके स्वामिभिर्बीभत्सादेरप्युक्तत्वाद्भक्तित्वं चेन्मुख्यत्वाच्छान्तग्रहणम् । मङ्गलेति । "ब्रह्म तन्मङ्गलं विदुरि"ति मङ्गलस्वरूपमित्यर्थः । ग्रन्थकृतः संक्षिप्तस्वनामनिर्देशश्चायम् ।। १०८ ।।

यः पूर्वं समपूजयन्मुररिपुं श्रीकृष्णचन्द्रं विभुं
यश्चेशानमतोषयत् परमया भक्त्याऽऽशुतोषं ततः ।
यश्चाम्बां समलम्बत प्रणयतो याऽदर्शयत्स्वं मह-
स्तस्य श्रीजयमङ्गलाह्वययतेरेषा कृती राजते ।।१०९।।

जिन्होंने प्रथम मुरारी भगवान् हरि की विभुरूप से पूजा की, बाद में काशीपुरी में परम भक्ति के साथ आशुतोष शंकर भगवान् को संतुष्ट किया तथा दक्षिण में कोलापुरवासिनी जगदम्बा माता का आलम्बन किया जिस भगवती ने प्रेम से अपना तेजःस्वरूप दिखाया उन श्री जयमङ्गलाचार्य (श्री काशिकानन्द) याति की यह कृति बुधजन मानस में विराजित हो ।। १०९ ।।

संक्षेपतः स्वपरिचयमाह ग्रन्थकारः य इति । कृती राजत इति ढ्रलोपदीर्घः ।

श्लोकभावार्थरक्षायै टिप्पणीयं कृता मया ।
दर्शनीयो यथाशास्त्रं कादम्बिन्यां तु विस्तरः ।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य जयमङ्गलाचार्य-महामण्डलेश्वरकाशिकानन्दयतेः कृतौ दिव्यरसतरङ्गिण्यां द्वितीया प्रेमलहरी समाप्ता ।।



दिव्यरसतरङ्गिणी

तृतीया आनन्दलहरी

(कादम्बिन्या मङ्गलाचरणम्)

क्रोडे संनिदधद् विनोदविधिना जिष्णुर्यशोदा च यद्
हस्ते मण्डनतः शमाय मुनयश्चित्ते शिरस्युद्धवः ।
संतप्तस्तनमण्डलेष्वघशतो गोप्यश्च निर्वव्रिरे
वन्दे नन्दतनूजसुन्दरपदद्वन्द्वं तदन्तर्हृदि ॥१॥

जिस (चरण कमल) को विनोद से अर्जुन ने अपनी गोद में रख कर निर्वृति (परम सुखानुभूति) पायी; मण्डनार्थं जिसे हाथ में लेकर यशोदा माता ने आनन्द पाया; ऋषि-मुनि शम प्राप्त्यर्थ हृदय में धारण कर सुख पाया; शान्त्यर्थ अपने मस्तक में धारण कर उद्धव ने आनन्द पाया; गोपिकाओं ने अपने संतप्त उरःस्थल में रख कर शान्ति पायी; नन्दनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र के उस कोमल पदारविन्द युगल को हम हृदय से वन्दना करते हैं ॥ १ ॥

शिक्ये पिधाय निहितं
विमथा कलशं प्रभिद्य नवनीतम् ।
हस्ते पतितं कुतुकात्
पश्यन् स श्यामलो जयति ॥२॥

छीका में ऊपर ढक कर रखे हुए दधिकलश को मथानी उलटी पकड़ भेदन करने पर नीचे हाथ में जो माखन का गोला पड़ा उसे प्रसन्नता पूर्वक देखते हुए यशोदा माता के आंगन में शोभायमान श्यामसुन्दर भगवान की जय हो। (छीका में ऊपर मटका रखा हुआ है। श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण ने देखा यह बहुत ऊंचा है तो हाथ में मथानी ली और उसको उलटा कर पतले भाग से ऊपर की ओर मारा। मटका में छेद हो गया। उसमें से छांछ की धारा गिरने लगी नीचे हाथ किया तो आखिर माखन का गोला आ गिरा। उसे भगवान् बालमुकुन्द बड़ी प्रसन्नता से देख रहे हैं। ऐसी प्रसन्न मुद्रा में स्थित श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् की जय हो) ॥ १ ॥

केनोद्भिन्ना कलशी-
त्युद्यम्य करं समागतां जननीम्।
न मया स्वयं तु भिन्ने-
त्यनृतमृतात्मा भिया लपति ॥२॥

मटका फूटने की आवाज से यशोदा माता दौड़ कर वहां पहुंची। देखते ही मालूम पडा कि कन्हैया ने ही फोड़ा। पूछा किसने मटका फोड़ा ? माता पीटने के लिये हाथ उठाये हुए थी। सत्यात्मा भगवान् उस समय असत्य बोलने लगे। मैया ! मैंने नहीं फोड़ा। यह स्वयं फूटा। (आत्मा स्वयं अकर्ता है। प्रकृति ही कर्त्री है। ऐसा यहां रहस्य है। अथवा मैंने स्वयं नहीं फोड़ा। प्रकृति युक्त होकर फोड़ा ऐसा अन्वयार्थ है। अनृत रूप घटभेदनादि को भगवान् बोल रहे हैं ॥ २ ॥

द्विगुणापराधहेतो-
रतिकुपिताया विलोक्य शोणदृशौ।
मातुः प्रवेपतेऽसौ
भीषा यस्माज्जगत् क्रमते ॥३॥

एक तो मटका फोड़ दिया, दूसरा यह झूठ भी बोल रहा है, इस दुगुने अपराध से अत्यन्त कुपित हुई माता की लाल आंखें देख कर भगवान् कांपने लगते हैं, जिस भावना के भय से यह जगत् सक्रिय हो रहा है, यह कैसा आश्चर्य है भीषास्याद्वातः प्रवते इत्यादि श्रुति है ॥३॥

कातरमवलोक्य सुतं
प्रेम्णा निर्भिन्नहृदयिनी देवी ।
पाणौ विधार्य चिबुकं
सकलाभयदाय दात्यभयम् ॥४॥

अपने लाल को डरे हुए देख कर देवी यशोदा का हृदय प्रेम से भर आता है। कन्हैया की ठोढी हाथ में ले उसे अभय देती है जो भगवान् समस्त जगत को अभय देने वाला है ॥ ४ ॥

आदायोरसि च तया
मुहुरयमाचुम्ब्यमानवदनोऽपि ।
नवनीताञ्जलिमजह-
ज्जयति जगद्धारणः कोऽपि ॥५॥

प्रेम से माता यशोदा छाती पर उठा कर बार-बार कन्हैया का मूंह चूम रही है। पर, माखन की अंजलि कन्हैया नहीं छोड़ता। जगत् को धारण करने वाले दिव्य स्वरूप उस भगवान की जय हो ॥ ५ ॥

खेलति भुवनमशेषं
बुद्बुदवत्पयसि यत्र महसि परे ।
श्यामलमङ्गलतायां
ललति तदाभीरवनितायाः ॥६॥

बुद्बुद के समान समस्त भुवन जिस परम ज्योति में खेलते रहते हैं वही तेज एक गोप स्त्री की अंगलता में खेल रहा है। धन्य हैं ॥ ६ ॥

भगवतश्चरितश्रवणोत्सुकाः
सततंतद्गुणसंगिरणे रताः ।
मधुररूपविचिन्तनतत्पराः
भवत रे भवसंतरणेच्छवः ॥७॥

भगवान का चरित्र श्रवण करने के उत्सुक बनो, सतत उसी के गुणगान में संलग्न रहो। भगवान् के मधुर रूप चिन्तन में तत्परता रखो। भवसागर पार करने के ये साधन हैं ॥ ७ ॥

व्रजत सज्जनसंगतिमुत्तमां
कुरुत निर्जनदेशरतिं सदा ।
त्यजत दुर्जनदूषितपद्धतिं
भजत भावुकभावितभावनाम् ॥८॥

संत संगति प्राप्त करो। हमेशा एकान्त देश सेवन करो। दुर्जन दूषित मार्ग को त्यागो। भावुकों को भावना अपनाओ ॥ ८ ॥

अविबुधैर्नितरामुपरोधने
प्यविचलं वसताचलनिश्चलाः ।
धरत धैर्यमकम्प्यमिहापदः
समुदिता मुदिता अभिवीक्ष्य च ॥९॥

अज्ञानी भले ही कष्ट दें, फिर भी पर्वत के समान अविचल रहो। चारों ओर आपदाओं का उदय देखकर भी सधैर्य प्रसन्न रहो ॥ ९ ॥

जपत नाम सदा मनसा हरे-
निजजनैः सह कीर्त्तयतापि तत् ।
पठत भागवतं चरितं मुहुः
कथयतापि कथां जनसंनिधौ ॥१०॥

भगवन्नाम का नित्य मानसिक जप करो। स्वजनों के साथ नाम संकीर्त्तन करो। भगवत् चरित्र बार-बार पढ़ो और लोगों की संनिधि में कथारूप में कहो ॥ १० ॥

दुरितचिन्तनमन्तयताखिलं
हरत मानसराज्यमनर्गलम् ।
चिनुत भागवतं वचनं सतां
तनुत चेतसि मङ्गलभावनाम् ॥११॥

पाप चिन्तन न करो। अनर्गल मनोराज्यों को त्यागो। संतों की हरि कथा का संग्रह करो। सर्वमंगल की भावना चित्त में रखो ॥ ११ ॥

भवति भक्तिनवाङ्कुररक्षणे
दृढतरो वरणः स हि सक्षमः ।
सुषममौषधमङ्कुरभक्षण-
प्रवणकीटगणक्षपणं च तत् ॥१२॥

यह नूतन भक्ति-अंकुर की रक्षाकारी सक्षम वाड है। और सुन्दर औषध भी है जो अंकुर को खाने वाले कीड़ों के नाशक हैं ॥ १२ ॥

यत्प्रेमतन्तून् प्रविभज्य दार-
पुत्रादिकांश्छङ्क्यसेऽविशङ्कम् ।

द्विभित्सुभिस्तैर्विरचय्य पाशं
बधान पादौ परमेश्वरस्य ॥१३॥

जिन प्रेमतन्तुओं को अलग-अलग कर निशंक भाव से पुत्र दारादि के साथ बांध रहे हो, ये सब टूटेंगे। इन तन्तुओं को जोड़कर एक रस्सी बनाओ और भगवान् के चरणों में बांधो जो कभी न टूटे ॥ १३ ॥

संसिन्वन्ति शतानि झञ्झणझणत्कारा न लौहान्दुकाः
कारागारशतानि रक्षकगणाध्यक्षाणि रुन्धन्ति नो।
बन्धुं किं प्रबभूव सर्वजगतीजेतापि कंसो हरिं
प्रेमाख्यैव हि शुल्विका लघुरपि श्रीकृष्णसन्दानिनी ॥१४॥

झनझनाती हुई सैकड़ों जंजीरें हरि को नहीं बांध सकतीं। द्वारपालों के देखभाल में सुरक्षित सैकड़ों कारागार उन्हें नहीं रोक सकते। सारी पृथ्वी को जीतने वाला कंस क्या भगवान् को बांध सका ? प्रेम रूपी रस्सी ही भले हलकी हो श्रीकृष्ण को बांध सकती है ॥ १४ ॥

निर्भिन्ना निगडा व्यवारि च जवात् कंसस्य कारा स्वयं
यस्याविर्भवने विदीर्णतमसो दुर्धर्षतेजोयुजः।
तस्योदूखलसंसितस्य लघुना दाम्ना यशोदाङ्गनं
कारागारनिभं बभूव समभादुद्दाम तद्दाम च ॥१५॥

भगवान् श्रीकृष्ण का आविर्भाव होते ही वसुदेवादि की बंधन शृंखला (हथकड़ी आदि) टूट गिरी। जेल स्वयं खुल गया। अंधकारहारी परम तेजस्वी उसी भगवान् के लिये यशोदा माता का आंगन ही जेलखाना बन गया था जब भगवान् ओखली पर बांधे गये थे और वही छोटी सो रस्सी भयंकर जंजीर बनी थी ॥ १५ ॥

दूरं धावति वज्रसंनिभमुरो निर्भिद्य सद्यः स्वभू-
रावद्धो नवनीतकोमलतरे चित्ते किलास्तेऽचलः ।
शक्तो दुर्दरदारुदारणविधावीक्षस्व नायं ह्यलिः
सायं मन्दनिमीलदम्बुजदलाद् गन्तुं बहिः कल्पते ॥१६॥

स्वयंभू स्वतन्त्र भगवान् वज्रकठोर हृदय को भेदन कर दूर भाग जाते हैं और माखन के समान कोमल चित्त में आवद्ध होकर अचल रूप से पड़े रहते हैं। देखो यह भ्रमर मजबूत लकड़ी को छेदने में समर्थ होने पर भी सायंकाल मन्द-मन्द वंद होते हुए कमल पुट से निकल बाहर जाने में असमर्थ हो रहा है ॥ १६ ॥

बाले मार्गयसे क्व दुर्गमपदं योगीश्वरैस्तद्विधो-
स्तत्तावत्प्रतिबद्धमस्ति हृदये श्रीराधिकायाः शुभे ।
उत्तप्ते प्रतिपायिते पयसि यां भैष्मीमुखाभिश्छला-
च्छोफो हन्त दुरन्तदाहकलनो यस्याभवत्पादयोः ॥१७॥

नारदजी—हे बाले ! गोपिके ! योगीश्वरों के लिये भी दुर्गम हरिपद को कहाँ खोज रही हो ? वह तो वस्तुतः राधिका के हृदय में नजरबंद है। रुक्मिणी आदि ने छल से उबलता हुआ दूध उन्हें पिलाया था। परिणाम यह निकला कि उस समय हृदय स्थित भगवत्चरण में वह जा लगा और भगवान् के चरणों में ऐसे फफोले पड़े जिसकी जलन असहनीय एवं जल्दी न मिटने वाली थी ॥ १७ ॥

संहृत्य क्षणभङ्गुरादसुखदादात्मेतरार्थाद् द्रुतं
जायापत्यपितृप्रसूधनसुहृत्सद्बान्धवाद्याद्द्वयात् ।
प्रेमाणं परिवीतशुल्वसुभगं कालाद्यभेद्यं परं
शुद्धं मङ्गलदेवतापतिपदे बध्नातु शान्तो भवान् ॥१८॥

क्षणभंगुर असुखकारी अनात्म पदार्थों से जो कि पत्नी, पुत्र, पिता, माता, धन, मित्र, बान्धवादि रूप हैं, प्रेम तन्तुओं को निकालकर बटी हुई रस्सी के समान एकीभूत एवं कालादि से अभेद्य बनाकर लक्ष्मीपति भगवान् के चरणों में शान्तभाव से बांध रखो ॥ १८ ॥

हृदयं मृदुलं विधेहि रे
धर पादाम्बुजकुड्मलं हरेः ।
मृदि विस्फुटमङ्कते पदं
मृदुलायां न शिलातले क्वचित् ॥१९॥

हृदय मृदुल बनाओ तब हरिपद कमल कलिका को धारण करो। मुलायम मिट्टी में पांव की छाप पड़ती है। पत्थर पर कभी नहीं ॥ १९ ॥

हरिपादसमागमे निजं
हृदयं प्रेमसुधाभिरार्द्रय ।
विषयोपगमे च भैरवैः
खरवैराग्यकरैर्विशोषय ॥२०॥

हरिचरण के स्मरण काल में हृदय भूमि को प्रेम सुधा से सींचो और विषयागम से पूर्व ही तीक्ष्ण वैराग्य किरणों से सुखा डालो ॥ २० ॥

गिरिराडुपयाति माधवे
हृदयं द्रावयति स्म दार्षदम् ।
अधुनापि पदाङ्कितं हरे-
रुपलभ्यं विषयाभिशोषितम् ॥२१॥

गिरिराज गोवर्धन ने भगवान् को आते हुए देखकर अपने पत्थर रूपी

हृदय को पिघलाया। फलतः आज भी भगवच्चरणाङ्कित पत्थर देखा जा सकता हैं जो विषयागमन काल में सुखा दिया था ॥ २१ ॥

अपि शुष्कसरःसमं मनः
प्रणयालं प्रणयामृतैर्मृदु ।
निहितं विनिकृष्यमाणम-
प्युपकृष्येत हरेः पदं न यत् ॥२२॥

भले ही यह चित्त शुष्क सरोवर के समान हो, फिर भी प्रणय रूपी अमृत से इसे सींचो। वह ऐसा मृदु हो जाय जैसे गहरा दलदल हो गया हो, जिससे भगवान् का चरण वहाँ आने पर धसता ही जाय और खींचने पर भी न खिचे ॥ २२ ॥

अपि मे हृदयं मृदु स्वयं
ननु हालाहलफेनफेनिलम् ।
परिमर्दय निर्दयं पदाऽ-
मृदुना कालियमर्दन प्रभो ॥२३॥

मेरा हृदय यद्यपि स्वयं मृदुल है। फिर भी रागद्वेषादि हालाहल के फेन से फेनिल हो गया है। हे प्रभो ! आप उसका मर्दन कर जहर को निकालो। आपने अपने मृदु कठोर पाद से मर्दन कर कालिय का जहर नष्ट किया था ॥ २३ ॥

कमले कमला कराम्बुजे
कमलायाः पदपङ्कजं हरेः ।
विदिधीर्षुरपास्तकण्टकं
कुरु हृत्तत् कुसुमं गलन्मधु ॥२४॥

कमल में कमला-लक्ष्मी रहती है। लक्ष्मी के कर कमल में भगवान् का चरण कमल ! अहो ! मानमदादि कांटों को हटाकर हृदय को मधु-स्यन्दि कुसुम बनाओ। तभी हरिचरणों को हृदय में धारण करने का सोचो ॥ २४ ॥



विधेहि सौन्दर्यसुधानिधाने
सदैव रागं वसुदेवसूनौ ।
विवेकिनो यान्ति तमेव तस्माद्
रागं विरागं कथयन्ति सन्तः ॥२५॥

सौन्दर्यसुधानिधान भगवान् वासुदेव में सदा राग करो विवेकी विवेक के बाद इसी राग को प्राप्त करते हैं। इसलिये इस राग को ही वैराग्य कहते हैं। क्योंकि विवेकोत्तर वैराग्य ही प्रसिद्ध है ॥ २५ ॥

ब्रुवन्ति मां पुण्यजना विरक्तां
न किन्तु मय्यस्ति विरागलेशः ।
अहं तु वृन्दावनकुञ्जलीला-
परेऽनुरक्ता नवनीतचौरे ॥२६॥

मीरा—लोग कहते हैं कि मैं विरक्त हो गयी हूं। किन्तु मैं देखती हूं कि मुझमें लेश भी वैराग्य नहीं है। मैं तो उस वृन्दावन विहारी नवनीत चौर भगवान् मुरारि में अनुरक्त हूं। (वस्तुतः यही अनुराग विराग है) ॥ २६ ॥

हेयो हि रागोऽयमनर्थकारी
स शक्यते नो यदि वा विहातुम् ।

विधीयतां तावदिहाखिलेषु
यदेव गोविन्दपदारविन्दम् ॥२७॥

यह अनर्थकारी राग सर्वथा हेय है। यदि इसे नहीं छोड़ सकते तो करो, किन्तु सर्वत्र करो। क्योंकि यह सब भगवच्चरणारविन्द ही है। श्रुति यही बात कहती है—"पादोऽस्य विश्वाभूतानि"।—समस्त प्राणी भगवान् का ही पाद है॥ २७॥

असत्यरूपे किल नामरूपे
रागं विदुः संसृतिबन्धहेतुम्।
तमेव मोक्षस्य निदानमस्ति-
भातिप्रिये श्रीहरिपादपद्मे ॥२८॥

तुच्छ नाम रूप में राग बन्धनकारी है। वही अस्ति भाति प्रियरूप हरिचरण में हो तो मोक्षका कारण बताया है॥ २८॥

प्रबाध्य सर्वेष्वपि नामरूप-
दृष्टिं दधीथाः परमेशदृष्टिम्।
रागं कुतो वा विनिवर्त्तयेथाः
सर्वं यतो ब्रह्म हि वासुदेवः ॥२९॥

सर्वत्र नामरूप दृष्टि बाधकर परमेश्वर दृष्टि करो। राग का निवर्त्तन या परिवर्त्तन अनावश्यक है क्योंकि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "वासुदेवः सर्वं" इत्यादि वचन से सभी परमेश्वर रूप हैं॥ २९॥

विनश्वरे मा कुरु रागमस्मिन्
विनाशकाले स हि दुःखहेतुः।

विधेहि विघ्नविनाशिनीशे
सदैव सन्मङ्गलभूम्नि देवे ॥३०॥

नश्वर दृष्टि से नश्वरवस्तुराग होता है। वस्तुनाशकाल में वह दुःखदायी होगा। अतः अविनाशी मंगलरूप प्रकाशात्मक भूमा परमात्मा में सदा राग करो॥ ३० ॥

म्लानान्यहो व्रजवनानि कृशाश्च गावो
गोपीजनाश्च विरहेण तवाम्बुजाक्ष ।
एका तु सातिचपलेन कलिन्दकन्या
संवर्धतेऽश्रुनिवहैर्व्रजबालिकानाम् ॥३१॥

उद्धवः—हे भगवन्! व्रज का क्या समाचार सुनाऊं। वहां के जंगल तो सूखने लगे, गायें मुर्झा गयीं, आपके विरह से गोपियां भी कृश हो गयी। हाँ, एक कालिन्दी जोर से बढ़ रही है। सो कैसे? खुशी से? नहीं। व्रज बालाओं के रोदनाश्रुके प्रवाह से॥ ३१ ॥

हे कृष्ण हे नलिनलोचन हे मुरारे
हे नाथ देव मुरलीधर दीनबन्धो ।
इत्येव देव सकलासु दिशासु नादः
संश्रूयते विरहजो व्रजगोपिकानाम् ॥३२॥

व्रज में हर दिशाओं में विरहिणी गोपिकाओं की यही आर्त्त पुकार सुनाई पड़ती है—हे कृष्ण! हे कमलनयन! हे नाथ! हे मुरलीधर! हे दीनबन्धु॥ ३२ ॥

त्वद्दर्शनप्रवणचित्ततया चिराय
कुञ्जेषु सानुषु गिरेः परिसञ्चरन्त्यः ।

स्मृत्वा त्वदीयगमनं सहसा निराशा
हा हेति पेतुरबला भुवि निःश्वसन्त्यः ॥३३॥

आपके दर्शन करने का निश्चय कर गोपिकायें कुंजों में और पर्वत के शिखरों में देर तक ढूंढ़ती रहती हैं। फिर जब एका-एक याद आ जाती है कि वे मथुरा गये हैं तो निराश होकर हाय-हाय! करती भूतल पर गिर पड़ती हैं ॥ ३३ ॥

प्रातः प्रमथ्य दधि ते चरितं गिरन्त्यो
हैयङ्गवीनमुपचित्य निधाय शिक्ये।
योषास्त्वदागमनदर्शनलोलनेत्राः
सायं विमोहकुहके विविशुर्हताशाः ॥३४॥

प्रातः दही मथ कर आपका चरित्र गाती हुई माखन निकाल गोपाङ्गनायें छीका में रखती हैं और आपके आगमन के लिये और दर्शन के लिये, लालायित हो बैठी रहती हैं। किन्तु सायं काल होने पर निराश हो मोहान्धकार में डूब जाती हैं ॥ ३४ ॥

काचित् क्षणं हसति रोदिति तत्क्षणं हि
रौति क्षणं लपति नृत्यति बम्भ्रमीति।
उन्मत्तवद् बधिरवज्जडवद् विलज्जं
नाथेति कम्पितरवं मुहुरुच्चरन्ती ॥३५॥

कोई गोपी ऐसी है कि जो क्षण में हंस लेती और तुरत रोने भी लगती है। क्षण में चिल्लाती, बात करने लगती, और चारों ओर घूमने लगती है। पागल जैसी बहरी जैसी और जड़ जैसी कभी होती है। निर्लज्ज हो नाथ नाथ! ऐसे कंपित स्वर बोलती है॥ ३५ ॥

इति गिरं निशमय्य शुचौद्धवीं
मुहुरमूमुचदश्रुकणान् विभुः ।
सकललोकपतिर्नववारिद-
च्छविरहो विरहोर्मिकुलाकुलः ।।३६।।

इस प्रकार शोक पूर्ण उद्धव वचन सुन कर भगवान् अपनी आंखों से आंसू बार-बार गिराने लगे । समस्त भुवन के मालिक होते हुए भी श्यामसुंदर हरि विरहतरंगों की बाढ़ से आकुल होने लगे ॥ ३६ ॥



हा हा देव प्रणतशरण श्रीपते दीनबन्धो
व्यापिन्येव प्रभवति भवत्यस्मि दीनातिदीना ।
कारुण्याब्धे स्वपदशरणं सर्वलोकाय यच्छन्
मामेवैकां कथमिव जगन्नाथ दीनां जहासि ।।३७।।

द्रौपदी की पुकार :—हे भगवान् ! हे प्रणतशरण ! हे लक्ष्मीपति ! हे दीनानाथ ! अहा ! व्यापक रूप से सर्वत्र रहते हुए आप प्रभु के सामने ही मैं दीन-दीन बन गयी हूँ । हे करुणासागर ! आप सबके शरण दाता हैं । हे जगन्नाथ ! आपने मुझ एक दीना को ही इस प्रकार कैसे त्याग दिया ?

हे देवेश स्वयमदितिजान् प्रेमपीयूषसिन्धु-
र्जातोऽवन्यामवसि दनुजैरर्दितान् लोकबन्धुः ।
कारुण्यं त्वं जगति तनुषेऽकारणं किन्तु भूमन्
मामेवैकां कथमिव जगन्नाथ दीनां जहासि ।।३८।।

हे देवाधिदेव ! आप प्रेमसुधा के सागर हैं, लोकबन्धु हैं । स्वयं पृथिवी में अवतार लेकर दैत्यों से पराभूत देवताओं की रक्षा करते हैं।

अकारण ही जगत में करुणा बरसाते हैं। किन्तु हे भूमन् ! आपने मुझ एक दीना को ही कैसे त्यागा ? ।। ३८ ।।

आक्रोशन्तं मकरवदनान्निःसहायं गजेन्द्रं
पातुं धावन् निजमपि विसस्मर्थ बन्धो शरीरम् ।
धावं धावं तमवसि पुरा निष्पतत्पीतवासा
मामेवैकां कथमिव जगन्नाथ दीनां जहासि ।।३९।।

गजेन्द्र असहाय था। आपको पुकार रहा था। ग्राह के मुँह से उसे बचाने आप दौड़े। उस समय आपने अपना शरीर भी भुला दिया। पीतांबर गिर पड़ा। फिर भी समय पर पहुंचकर आपने उसकी रक्षा की। किंतु मुझ दीना को आपने असहाय छोड़ा ।। ३९ ।।

ज्योत्स्नाशीतां प्रदहनशिखां, हारसौम्यान् पृदाकून्
प्रह्लादे त्वां स्मरति चक्रुषे कण्टकान्माल्यतुल्यान् ।
स्तम्भादाविर्भवसि च पुरा सत्यवाचं विधातुं
स त्वं दीनां कथमिव विभो सांप्रतं मां जहासि ।।४०।।

प्रह्लाद ने आपका स्मरण किया। आपने उसके लिये अग्निज्वाला को चांदनी के समान शीतल बनाया। सर्पों को पुष्पहार के समान सौम्य बनाया। कांटो को फूल बनाया। प्रह्लाद की वाणी को सत्य करने के लिये आप खंभे से ही प्रगट हो गये। वे ही आप आज कठोर कैसे हो गये ? मुझ दीना को कैसे त्याग रहे हैं ? ।। ४० ।।

कौरव्येऽस्मिन् दुरतितरणे नाथ पङ्के निमग्ना
त्वामेवैकं शरणमुपयातास्मि देवं शरण्यम् ।

एषा तावत्तव ननु ततः पालयैनां त्वदीयां
दीनामाहो भृशमशरणां संत्यजैव स्वतन्त्रः ॥४१॥

हे नाथ ! कौरवों के इस दुस्तर पंक में मैं डूब रही हूं। एक मात्र शरणदाता आप की शरण में आयी हूं। मैं आपकी हूँ। चाहे मुझे बचाओ, चाहे ऐसी अशरण ही मुझे छोड़ो, आप स्वतन्त्र हैं ॥ ४१ ॥

कौरव्याणामिति किल सभामध्यमाराध्यमुच्चै-
राक्रोशन्तीं स्फुटितहृदयां स्वीयहस्तेऽप्यनास्थाम् ।
यः कारुण्याद् द्रुपदतनयां कौरवाकृष्टचैला-
मावीदाविर्भवतु हृदये मङ्गलं नो दधानः ॥४२॥

दुःशासन साड़ी खींच रहा था। द्रौपदी हाथ से बचाने की कोशिश कर रही थी, पर उसमें भी अब आस्था नहीं रह गयी थी। सभा मध्य में आराध्य भगवान् को जोर-जोर से पुकारती हुई रो रही थी। करुणासागर भगवान् उपस्थित हुए। उसे बचाया। वे मंगलकारी भगवान् हमें भी दर्शन दें ॥ ४२ ॥



कवचं धर भक्तिरूपिणं
व्रज दुर्जेयरणाङ्गणे ततः ।
खरबाणहतोऽन्यथा भवे
रणमध्ये परिभावितो भवे ॥४३॥

भक्तिरूपी कवच पहन कर भवरूपी रणांगण में उतरो। अन्यथा तीखे बाणों से आहत होकर रणमध्य में पराभूत होओगे ॥ ४३ ॥ (भवेः)

यदि वाञ्छसि संसृतेः सृते-
रभिगन्तुं बहुकण्टकावृतेः ।

धर भावमुपानहं पदोः
शकटे वा विश भक्तिरूपिणि ॥४४॥

अनेक कण्टकावृत संसार (गृहस्थ) मार्ग से ही आगे (भगवत्संमुख) चलना है तो पावों में भावरूपी पादुका धारण करो या भक्तिरूपी गाड़ी में बैठो ॥ ४४ ॥

यदि वाञ्छसि मुक्तिमौक्तिकं
प्रतिलब्धुं तलतो भवाम्बुधेः ।
नय जीवनदायिनीं समं
हरिभक्त्योषजनप्रणालिकाम् ॥४५॥

भवसागर के गहन तल से यदि मुक्तिरूपी मोती चुगना चाहते हो तो जीवनदायी हरिभक्तिरूपी आक्सिजन की नली साथ ले चलो ॥ ४५ ॥

अतिमात्रमुपेत्य संसृते-
रुपभोगं हतजातवेदसाम् ।
ननु जन्मजरोपतापिनां
भगवद्भक्तिरियं रसायनम् ॥४६॥

संसार के अधिक उपभोग से मन्दाग्नि हो गयी हो और जन्मजरादि रोग लग गये हो तो इस भगवद्भक्तिरूपी रसायन का सेवन करो ॥ ४६ ॥

हृदि विध्यति सम्पदासुरी
यदि सेनेव ततोऽविलम्बितम् ।
पिब भावमथा विलोडितां
भगवद्भक्तिसमाह्वयां सुधाम् ॥४७॥

यदि आसुरी सेना सदृश आसुरी संपत् हृदय पर वार करती हो तो भावरूपी मथानी से मथित हरिभक्ति रूप सुधा का पान करो ॥ ४७ ॥

यदि मुक्तिवधूरपैति दूरे
निजदुर्वासनया विरज्यमाना ।
अधिवासय भक्तिलेपनेन
स्ववपुः सत्त्वरमङ्गलाञ्छितेन ॥४८॥

यदि अपनी दुर्वासना (दुर्गन्धि, खराब संस्कार) से मुक्तिरूपी वधू दूर भाग रही है तो भक्तिलेपन को अंगों में लगा कर अपने को अधिवासित (सुगंधित, उत्तम संस्कारयुक्त) करो ॥ ४८ ॥

न भक्तिभावं प्रतिपद्यतेऽहं-
ममाद्यविद्यामजहत् कदाचित् ।
मलाविलायःशकलं सुवर्णं
न जायते स्पर्शविमर्शनेऽपि ॥४९॥

अहंता-ममता आदि अविद्या छोड़े विना कभी भी भक्तिभाव प्राप्त नहीं होगा। मलावृत लोहा पारस का स्पर्श होने पर भी सोना नहीं बनता ॥ ४९ ॥

कदापि नाकर्षति लोभलुब्धं
स्वान्तं हि कृष्णोऽखिलकर्षणोऽपि ।
रसानुलिप्तं शकलं न लौहं
कदाचिदाचुम्बति चुम्बकं हि ॥५०॥

सकलाकर्षक भी कृष्ण लोभी चित्त का आकर्षण कभी नहीं करता रसलिप्त लोहखण्ड को चुम्बक आकर्षण नहीं करता ॥ ५० ॥

क्रोधादिके जाग्रति तापके न
स्फुरेन्मतौ भक्तिरनन्यभावा ।
निदाघरश्मौ दिवि जृम्भमाणे
क्व जृम्भतां नाम कला सुधांशोः ।।५१।।

तापकारी क्रोधादि के जागृत रहते हृदय में अनन्यभाव भक्ति नहीं हो सकती। सूर्य आकाश में तपने लगता है तो चन्द्रकला का क्या अस्तित्व रहता है ॥ ५१ ॥

बीजस्वरूपेण हृदि स्थितेयं
कामादिकीटैरभिकुष्यमाणा ।
शमाङ्कुराय प्रभवेन्न भक्ति-
स्तस्मात्समस्ताञ्जहि तान् हृदिस्थान् ।।५२।।

बीज रूप से हृदय में स्थित इस भक्ति को कामक्रोधादि कीड़े कुरेदने लगते हैं तो वह शमरूपी अंकुर उत्पन्न नहीं कर पाती। इस लिये हृदयस्थ इन कामादि को नष्ट करो ॥ ५२ ॥

प्लवङ्गराजः प्रतिलभ्य राज्यं
तारापरिष्वङ्गविलोलचेताः ।
अहो विसस्मार निजां प्रतिज्ञां
श्रीरामचन्द्रं भगवन्तमेव ।।५३।।

वानरराज सुग्रीव को ही लो। राज्य मिला। तारा में आसक्त हो गया। वह अपनी प्रतिज्ञा भूल जाता है और भगवान् राम को भी भूल जाता है ॥ ५३ ॥

कामो हि नामायमनर्थसार्थो
महाशनोऽसावशनिः शमाद्रेः ।
भस्मीकरोतीश्वरभक्तिबीजं
पाप्मानमेनं जहि मङ्गलघ्नम् ॥५४॥

यह काम अतिभोजी है। अनर्थ का साथी है। शम पर्वत का वज्र है। ईश भक्ति बीज को जलाता है। मंगलनाशक इस पापी को नष्ट करो ॥ ५४ ॥

इयं दासी प्रेम्णा सकलगृहकर्माणि कुरुते
प्रकुर्वाणा कर्माण्यपि गृहजनान् प्रीणयति च ।
रुदत्यां स्वामिन्यां विलपति च पूर्णाश्रुनयना
निजार्थैकप्रेमा भवति तु परं निर्ममनाः ॥५५॥

यह दासी कैसी ? देखो। प्रेम से घर का सारा काम करती है। काम करती हुई गृहजनों को प्रसन्न भी रखती है। सेठानी रोने लगती है तो यह भी आंसू बहा कर रोती है। किन्तु सबसे निर्लिप्त है। अपने अर्थ से ही मतलब रखती है। अन्यत्र उसमें कोई ममता नहीं है (ऐसे ही भक्त को संसार में रहना चाहिये) ॥ ५५ ॥

नटोऽयं वैदेहीविरहकृतशोको विलपति
श्रियं लब्ध्वा पश्चादनुभवति चानन्दलहरीम् ।
न हर्षः शोको वा भवति परमार्थेऽस्य विदुष-
स्तथाप्युल्लङ्घ्यैष प्रचलति न चाज्ञां नटयितुः ॥५६॥

यह नट कैसा, देखो। सीता विरह से शोकाकुल हो रो रहा है। रावणवधानन्तर श्री को प्राप्त होकर आनन्द में निमग्न हो रहा है।

परमार्थतः इस विद्वान को न शोक होता है और न हर्ष ही फिर भी नाटक के मार्गदर्शक की आज्ञा का उलंघन कर कभी नहीं चलता (वैसे भक्त को संसार के नियमों को तोड़े बिना अलिप्त रहना चाहिये ।)

अशेषं कर्त्तव्यं जगति विदधानोऽपि सततं
प्रकुर्वीथाश्चित्तं भगवति हि नित्यं विगतभीः ।
अगाधे पाथोधेश्चरति मकरी दुर्गमतले
सदातीरे चेतो धरति निजचेतोऽण्डवलिते ।।५७।।

सांसारिक समस्त कर्त्तव्यों को सतत करते हुए अपने चित्त को निर्भयतापूर्वक भगवान में ही नित्य लगाओ । दुर्गम अगाध सागर के तल प्रदेश में मगरनी विचरा करती है । किन्तु उसका चित्त तीर में ही लगा रहता है जहां उसने अंडे दिये हैं ।। ५७ ।। (च + इतः)

विशुद्धं प्रेमाणं कमपि निजमादर्शयति नि-
र्ब्रवीति स्वात्मानं विरहविकलां कामुकजनम् ।
न सा प्रेमालोला न च विरहशोकाकुलमना
धनानन्यप्रेमा भवति निभृतं वारवनिता ।।५८।।

कामी जन को अपना शुद्ध प्रेम दिखाती है । अपने को उसके विरह में व्याकुल बताती है । वस्तुतः वह न तो प्रेम व्यग्र है और न शोकाकुल ही है । वाराङ्गना का तो धन में प्रेम होता है (आत्मा का असल पति परमात्मा है) ।। ५८ ।।

इयं रुग्णागारे परिचरति रुग्णान् परिचरी
तरुण्येषा साध्वी व्यवहरति माध्वीकवचनैः ।
अमुह्यन्ती मोहं गमयतितरामातुरजने
मृते वा स्वस्थे वा न तपति न हृष्यत्यपि परम् ।।५९।।

इस परिचारिका को देखो। अस्पताल में रोगियों की सेवा करती है। तरुणी, सुन्दरी, साध्वी है। मधुर वाणी से व्यवहार करती है। स्वयं तो मोहित नहीं होती, किंतु रोगियों को सुव्यवहार से मोहित करती है। उनको लगेगा कि यह हमारी हो गयी है। पर, रोगी के मरने पर न वह रोती है और स्वस्थ होने पर न खुशी मनाती है ॥ ६० ॥

स्पृशन् पश्यन् जिघ्रन् स्वपरबहुकार्याणि विदधद्
हसञ्जल्पन् शृण्वन् दददपि च गृह्णन्नपि सदा ।
स्थिरं निर्व्यासङ्गं निजमखिलमङ्गल्यपदयो-
र्जगद्धेतोश्चेतो धर गरुडकेतोश्चरणयोः ॥६०॥

स्पर्श करो, देखो, सूंघो, अपने तथा पराये नाना कार्य करो, हंसो बोलो, दो, लो, पर अपना चित्त अनासक्त एवं स्थिर रख कर जगत के कारण गरुडवाहन भगवान के मंगलास्पद चरणों में लगाये रखो ॥ ६० ॥

अजस्रमर्थं सुखरूपमर्थय-
न्नपि प्रपद्यस्व रमापतेः पदौ ।
विहाय मातापितरौ दयापरौ
प्रपद्यतां कं शरणं शिशुः परम् ॥६१॥

धनरूप अर्थ या आध्यात्मिक सुखरूप अर्थ चाहते हो तो रमापति की ही शरण लो। माता-पिता दयालु होते हैं। भगवान् सहस्रमातापितृ-स्थानीय हैं। ऐसे दयालु माता-पिता को छोड़कर बालक किसकी शरण में जाये ॥ ६१ ॥ (अर्थार्थी)

अथार्त्तिमेवापनिनीषुणा सुखा-
ऽनभीप्सुना दुःखसमाह्वयामपि ।

प्रपद्यतामात्तसुदर्शनस्य तत्
सदा सदाराधितपादपङ्कजम् ।।६२।।

सुख की अभिलाषा तो नहीं है। फिर भी दुःख सहा नहीं जाता। उस दुःख को या संसारदुःख को मिटाने की इच्छा है तो भी सत्पुरुषों के आराध्य भगवच्चरणों की शरण लो। दुःखहरणार्थ ही तो वे सुदर्शन चक्र हाथ में लिये हुए हैं ॥ ६२ ॥ (आर्त्त)

यदापि वेदान्तनिवेदितार्थं
जिज्ञाससे ब्रह्म तदापि देवम् ।
हरिं प्रपद्यस्व चितिस्वरूपं
किमप्रतिष्ठैः खलु तर्कजालैः ।।६३।।

वेदान्त में प्रतिपादित ब्रह्मरूपी परमार्थ तत्त्व की जिज्ञासा यदि रखते हो तो भी हरि की शरण में जाओ। हरि ज्ञानस्वरूप है ज्ञानदाता है। वेदान्त श्रवणोत्तर प्रतिष्ठाहीन तर्क जालों में मत फंसो ।।६३।। (जिज्ञासु)

मुमुक्षया वाऽघजिहासया वा
संसेव्यतां सत्त्वरतेन देवः ।
यज्ञार्थमात्तः पचनार्थमाहो
शीतं हरत्येव हिरण्यरेताः ।।६४।।

मोक्षकी इच्छा से हो या पाप नाश की इच्छा से, सत्त्वगुणनिष्ठ होकर भगवान की सेवा करो। अग्नि को चाहे यज्ञार्थ लो चाहे पाकार्थ, वह शैत्य का वारण करेगी ही ॥ ६४ ॥ (सात्त्विक)

लोभादिना वा रजसा स्वकर्म-
मान्द्यादिना वा तमसा प्रयुक्तः ।

येनापि केनापि कथंचनापि
सेवस्व देवं निजमुद्दिधीर्षुः ॥६५॥

राजस लोभादि से या तामस कर्मालस्यादि से प्रेरित हो सर्वथा भगवत्सेवन जैसे तैसे भी करो, यदि अपना उद्धार चाहते हो ॥ ६५ ॥ (राजस, तामस)

अथासि विज्ञातपरात्मतत्त्व-
स्तथाप्यभेदेन भजस्व विष्णुम् ।
दृढापरोक्ष्यं स हि नित्ययुक्तः
संप्राप्नुयान्मङ्गलभूमरूपम् ॥६६॥

और यदि तत्त्वज्ञानी हो तो भी अभेद से व्यापक विष्णु का भजन करो। अभेद भक्ति वाला ही नित्य युक्त है। वह मङ्गल रूप भूमा का दृढ अपरोक्ष साक्षात्कार प्राप्त करता है ॥ ६६ ॥ (ज्ञानी, निर्गुण)

आसक्तं विषयेषु मानसमपाकुर्याः सपर्यापरं
चेतः साधय माधवाङ्घ्रिकमलद्वन्द्वस्य निर्द्वन्द्वतः ।
विश्वासं ननु बुद्बुदेषु सरितां तीरेषु मा मा कृथा
मा वा शृङ्गिषु पन्नगेषु नखिषु ज्वालावलीषूर्मिषु ॥६७॥

विषयों में आसक्त मन को वहां से हटाओ और निर्द्वन्द्व बना कर भगवान के चरण कमलों की पूजा में तत्पर बनाओ। तुम इन बुद्बुदों में, नदी तीरों में, सींगवालों में, सांपों में, नाखूनवालों में, अग्नि ज्वालाओं में और तरंगों में विश्वास मत करो। ये विषय बुद्बुद के समान क्षणभंगुर हैं। नदी तीर एक दिन टूट कर तटवृक्षों को सागर में जैसे पहुँचाते हैं वैसे संसार सागर में पहुँचाते हैं, शृंगियों के समान सींग मारने वाले हैं,

सर्पों के समान जहर फैलाने वाले हैं। ऐसे विषयों पर विश्वास करो तो धोखा खाओगे ॥ ६७ ॥

लक्ष्मीयं चपला न विश्वसिहि तामेषा मदोया प्रिये-
त्यद्य त्वां वृणुते वरीष्यति परं पुष्पाणि भृङ्गीव सा ।
तं लक्ष्मीधरमेव धारय सखे तस्मिन् धृते सा धृता
राजानं किल गृह्णते मधुकृतां गेहे मधुग्राहिणः ॥६८॥

यह लक्ष्मी अत्यन्त चञ्चल है। यह मेरी प्रिया है ऐसा उस पर विश्वास न रखो। आज तुम्हारे पास आयी है तो कल दूसरे के पास चली जायेगी। जैसे भ्रमरी एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर चली जाती है। इसलिये हे मित्र ! तुम उस लक्ष्मीधर को धारण कर रखो। उसके धारण से लक्ष्मी का धारण स्वयं हो जायेगा। मधु निकालने वाले अपने घरों में मधु-मक्खियों के राजा (रानी) को ही पकड़ रखते हैं ॥ ६८ ॥

नालं धावसि बाल चञ्चलनिजच्छायां ग्रहीतुं श्रमाद्
नेयं यास्यति तावके करतले कामं दिनान्तं व्रज ।
लोकालोकविभासिना द्युमणिना येन स्वयंज्योतिषा
जातेयं तमभिद्रव स्वयमियं तातानुधाविष्यति ॥६९॥

हे बालक ! तुम अपनी इस चंचल छाया को पकड़ने के लिये अथक श्रम कर लगातार जो दौड़ रहे हो. भले सायंकाल तक दौड़ो, किंतु यह हाथ में आने वाली नहीं है। समस्त लोक में आलोक प्रसारित करने वाले स्वयं प्रकाश जिस सूर्य से यह छाया बनी है, बेटा ! उसी की ओर मुख करके दौड़ कर देखो। यह छाया पीछे-पीछे दौड़ती आयेगी। (परमात्मा और उसकी छायारूप लक्ष्मी आदि को लेकर यह अन्योक्ति है) ॥ ६९ ॥

मातङ्गश्च तुरङ्गमश्च रुचिरावुत्तुङ्गशैलोऽतुलः
सर्वं मामकमित्यसौ प्रतिकृतावज्ञानसंमोहितः ।
विस्मृत्यानुपमं सुधातिमधुरं स्तन्यं जनन्याः शिशुः
कायोद्वेगकरीं वतानुभवति क्षुध्यन्नुदन्यातुरीम् ॥७०॥

ये हाथी घोड़े बहुत सुन्दर हैं, यह ऊंचा पहाड़ तो बेजोड़ है। ये सब मेरे हैं, इस प्रकार खिलौनों में अज्ञान से मोहित हुआ बालक अमृत समान मधुर अनुपम माता के दूध को भूलकर भूखा प्यासा खेल रहा है। (जगत् खिलौना, परमेश्वरदर्शन मातृस्तन्य इत्यादि द्रष्टव्य है) ॥ ७० ॥

उद्यत्तुङ्गतरङ्गचञ्चलतरं विद्युल्लताभङ्गुरं
संत्यज्य क्षणिकं जगज्जनिमतां मातुः पितुश्चेशितुः ।
अग्रेऽधीरमुदग्रतो रुदिहि रे नैवारुदन्तं धरे-
दङ्के पाययते पयश्च जननी निश्चिन्तभावा शिशुम् ॥७१॥

उछलती ऊंची तरंगों के समान चंचल एवं बिजली के समान क्षणभंगुर जगत को छोड़कर समस्त प्राणियों के माता-पिता एवं रक्षक रूप परमेश्वर के आगे अधीर हो जोर से रोओ। जब तक बच्चा रोता नहीं, मां उसे उठाकर न गोद में रखती और न दूध पिलाती है। कारण, वह निश्चिन्त रहती है ॥ ७१ ॥

क्षुभ्यन्मारुतवेगविभ्रमभवत्कल्लोलमालाऽसकृत्-
कूलास्फालनभाविनो हि नयनव्यालोलताकारिणः ।
आमर्शक्षणभङ्गभङ्गिवपुषो निर्विप्रुषो बुद्बुदा
नोदन्यां शमयन्ति नार्द्रमपि वा क्षामङ्गलं तन्वते ॥७२॥

क्षुभित हवा के वेग से उत्पन्न तरंग समूह के तट के साथ बार-बार टकराने से उत्पन्न, अपने सौन्दर्य से दर्शकों के नेत्रों को चंचल करने वाले, किंतु छूते ही फूटने वाले, वस्तुतः बूंद पानी से भी रहित ये बुद्बुद न तो प्यास बुझा सकते हैं और न सूखा हुआ गला ही गीला कर सकते हैं। (सांसारिक विषयों को लेकर यहां अन्योक्ति है) ॥ ७२ ॥

—:०:—

शैलोद्दामशिलाभिघट्टघटनप्रत्युच्छलच्छीकर-
व्रातालिङ्गितमारुतं कतिपये गाङ्गं भजन्ते तटम् ।
ग्रीष्मेपूष्मनिदाघधामविगलद्भानुस्फुलिङ्गावली-
व्यालीढानिलमाभजन्त्यसुभगा धन्वानमन्ये जनाः ॥७३॥

पहाड़ को उद्भट शिलाओं पर टकराकर उछलते हुए गंगाजल के कणों से शीतल हुए पवन के कारण सुखदायी बने गंगातट का सेवन ग्रीष्म काल में कुछ लोग करते हैं। और अन्य भाग्यहीन मानव उसी ग्रीष्म काल में सूर्य से निकली उष्ण किरणों की चिनगारियों स भयावह बने पवन से युक्त मरुभूमि का सेवन करते हैं (भगवान् और संसार को लेकर अन्योक्ति है। उत्तर श्लोक में स्पष्ट है) ॥ ७३ ॥

यावद्यावदुपैति गाङ्गममलं कूलं परां शीततां
तावत्तावदुपैति तापशमनीं सांनिध्यमेवं हरेः ।
धन्वानं च यथा यथोपसरति ग्रीष्मोद्यदूष्माकुलं
तापक्लान्तिततिं तथैव हि तथा संसारघोरानलम् ॥७४॥

ज्यों-ज्यों गंगा के निर्मल तट के पास पहुँचते हैं। त्यों-त्यों तापहारिणी शीतलता प्राप्त होती है। इसी प्रकार भगवान के समीप जैसे जैसे पहुँचते हैं वैसे वैसे तापत्रयशमन कारी शान्ति प्राप्त होती है। इसके विपरीत ग्रीष्मकाल की उष्णता से भयानक मरु भूमि के पास ज्यों ज्यों पहुँचते हैं

त्यों त्यों गरमी की व्याकुलता बढ़ती जाती है। वैसे ही घोर संसार दावानल के पास जैसे जैसे पहुँचते हैं वैसे वैसे ताप त्रय संताप भी बढ़ता जाता है ॥ ७४ ॥

संगच्छध्वमनन्तसद्गुणनिधावानन्दबोधाम्बुधौ
त्वङ्गत्प्रेमसुधातरङ्गसुभगेऽसङ्गस्वरूपे विधौ।
माऽलङ्घथे विनिधध्वमध्वविकले तापत्रयीवाडव-
ज्वालाव्याकुलिते पदं प्रतिभये संसारवारांनिधौ ॥७५॥

अनन्त सद्गुणों के निधान, आनन्द और बोध के सागर, प्रेम सुधा की ऊंची तरंगों से सुमनोहर एवं असंग रूप भगवान में अपने को समर्पित कर दो। तापत्रयरूपी वडवाग्नि की ज्वालाओं से व्याकुलित भयंकर एवं अलंघनीय संसार समुद्र में अपना पांव मत रखो ॥ ७५ ॥

बुद्ध्या नैव तया प्रकाशनविधिः सद्वस्तुनः शक्यते
निर्मग्ना विषयेषु या चलदलव्यालोलभावाकुला।
शक्यो दीपशलकया पतितया मध्ये चिरादम्भसः
कर्त्तुं घर्षितया मुहुर्मुहुरहो वस्तुप्रदीपः किमु ॥७६॥

विषयों में मग्न तथा पीपल के पत्ते के समान चंचल बुद्धि से परमेश्वर का प्रकाशन नहीं किया जा सकता। बहुत देर से पानी में पड़ी दियासलाई से बार-बार रगड़ने पर भी प्रकाश किया जा सकता है क्या ? ॥ ७६ ॥

विश्वस्याखिलतारकं रघुपतेर्नामैव यत्केवलं
तीर्णो मारुतिरर्णवं प्रतिभयं लोलोर्मिमालाकुलम्।

संप्रत्ते च विभीषणेन कुमतिर्विश्वासमुत्सृज्य त-
न्नामन्यम्बुनिधौ ममज्ज सहसा मध्यंगतोऽप्यश्रपः ॥७७॥

समस्त जगत का तारनहार भगवन्नाम ही है ऐसा विश्वास कर हनुमान जी ने भयंकर महासागर को पार किया। किन्तु विभीषण की दी नामताबीज में राक्षस ने बीच समुद्र में आकर विश्वास खोया। परिणाम, वह वहीं डूब गया ॥ ७७ ॥

आशापाशवशीकृतोऽनयमहर्विश्वासयोगादहं
दारेष्वात्मजसोदरादिषु तथा मित्रेषु बन्धुष्वपि ।
सर्वे हन्त निजार्थसाधनरता निर्वास्य मां निर्गता
नाथ त्वच्चरणं प्रभोऽद्य शरणं शम्भो जगन्मङ्गलम् ॥७८॥

आशा पाशों में जकड़ा हुआ मैं दार, पुत्र, भाई, मित्र एवं बन्धु जनों में विश्वास कर दिन बिताता रहा। किंतु हाय! सभी अपना स्वार्थ बनाते रहे। अन्ततः मुझे छोड़ कर सब चले गये। हे नाथ! हे शंभो! अब तो मेरे लिये आपका मंगलमय चरण ही शरण है ॥ ७८ ॥

——:०:——

संसारवन्याध्वनि नाध्वनीना-
श्छत्रं जहीतेश्वरभक्तिरूपम् ।
तापादिदं रक्षति मोहवर्षाद्
दुर्नेयसत्त्वप्रविभीषिकेयम् ॥७९॥

संसार जंगल के पथिकों! ईश भक्ति रूप छाता मत छोड़ो। यह धूप से और वृष्टि से बचायेगा। वन्य प्राणियों के सामने फटाक से खोल दो वे देख कर डर के मारे भाग खड़े होंगे ॥ ७९ ॥

अभक्तिभावेन भवे निविष्टं
मनो विलीयेय पयोऽम्बुनीव ।
तरत्युपर्येव सभक्तिभावं
तदेव यद्वन्नवनीतभूतम् ॥८०॥

विना भक्ति भाव संसार में प्रविष्ट मन पानी में दूध के समान विलीन होगा और सभक्ति मन माखन के समान ऊपर तरता रहेगा ॥ ८० ॥

स्नेहं तनौ सार्षपमभ्यनक्तु
खेलत्वथो वारिनिधौ चिराय ।
खेलत्वमुष्मिन् भवसागरेऽपि
स्नेहं मतौ भागवतं विधाय ॥८१॥

सरसों का स्नेह (तेल) शरीर पर मलो, फिर भले समुद्र में देर तक खेलो। इस भवसागर में भी खेलो। किन्तु मन में भगवत्स्नेह लगा कर ॥ ८१ ॥

ध्रुवोऽधिराज्ये न्यवसत् पुरा चिरं
ध्रुवं पदं चापदनन्तमन्ततः ।
शुको मुनिस्तीव्रतपा महावने
वसन् यदेवाप परं पदं हरेः ॥८२॥

ध्रुव राज्य में अधीश्वर होकर रहे और अन्त में वही अनन्त ध्रुवपद पाया जिसे जंगल में महान तप कर शुकदेव जी ने पाया ॥ ८२ ॥

भक्त्या विशुद्धात्मवतां न दोषः
संसारमध्ये वसतामपि स्यात् ।
स्पर्शेन भावे गमिते हि हैमे
न यात्ययो मृद्गतमप्ययस्त्वम् ॥८३॥

भक्ति से शुद्ध चित्त वाला संसार में रहने पर भी दोषवान् नहीं होता। पारस से लोहा सोना बना तो मिट्टी में पड़ने पर भी वापिस लोहा नहीं होता ॥ ८३ ॥

नारायणाङ्घ्रिद्वयलब्धभक्ति-
श्चचार देवर्षिवरो जगत्याम् ।
द्विजिह्वभावं न निजस्वभावं
जहावभूत् सोऽपि च मङ्गलाय ॥८४॥

हरिचरण भक्ति पाकर देवर्षि नारद जगत में विचरते रहे। चुगली करने की अपना आदत नहीं छोड़ी। किन्तु वह भी लोकमंगलकारी ही सिद्ध हुई ॥ ८४ ॥

अस्ति हीरमणिरच्युतरूपः
स्वान्तरेव तव वेश्मनि लीनः ।
हस्तितं कुरु निखन्य तमेनं
नैव कर्म तव वत्स्यति किंचित् ॥८५॥

अच्युत रूपी हीरा अपने घर के अन्दर ही छिपा हुआ है। खोद कर उसे हथिया लो। तुम्हें फिर काम करने की जरूरत नहीं होगी ॥ ८५ ॥

तावदेव तत्र कर्म जगत्यां
जायते हरिपरा नहि भक्तिः ।
आगता नववधूः शुभशीला
श्वश्रुवो हरति कर्म हि सर्वम् ॥८६॥

तभी तक कर्त्तव्य कर्म रहता है जब तक हरिभक्ति उत्पन्न नहीं होती। सुशील वधू घर में आयी तो सासू के कर्म समाप्त होते हैं ॥८६॥

आलवालवरणादिविधानं
सेचनं वितृणनं प्रणिधानम् ।
बालपादपविधे विदधीथाः
पादपे समवधानसमेतः ॥८७॥

मेड़ बनाना, वाड लगाना, पानी सींचना, घास उखाड़ना, हमेशा ध्यान रखना यह सब तब तक करना है जब तक पौधा कुछ बढ़ता नहीं ॥ ८७ ॥

आसनानिलनिरोधनसम्यग्-
धारणादिसहितं प्रणिधानम् ।
मुच्यते भगवतो दृढभक्तौ
कर्मजालमखिलं च विधिस्थम् ॥८८॥

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान ये सब भगवान में दृढ़ भक्ति होने पर छूट जाते हैं तथा विधि प्रोक्त सब कर्म भी छूट जाते हैं ॥ ८८ ॥

नाविको विधरते प्रकम्पनो-
द्वेल्लिते तरणिमूर्मिमालिनि ।

सुस्थिरे पयसि केनिपातकं
सन्दधत् स्वपिति निर्भयः सुखम् ॥८९॥

जब समुद्र में तूफान रहता है तब नाविक नाव को खूब सम्हालता है। पानी स्थिर होने पर पतवार डाल कर निर्भय हो लेट जाता है ॥८९॥

मानसे विषयवातकम्पिते
धारणादि कुरु कर्म शर्मदम्।
सुस्थिरे मनसि भक्तिमुत्तमां
कुर्वतः क्व नु हरावमङ्गलम् ॥९०॥

विषयों की आंधी से जब तक मन कंपित रहता है तब तक धारणा ध्यानादि मंगलकारी कर्म करो। मन स्थिर होने पर उत्तम हरि-भक्ति करने वाले को कहां अमंगल की सम्भावना है ॥ ९० ॥



एकाग्रं भवति यदा स्थिरं च चेतो
निष्कम्पं प्रविशति तर्हि तन्महेशे।
न द्व्यग्रं प्रविशति चञ्चलं सकम्पं
सूच्या निर्व्यथनमतिश्रमेऽपि सूत्रम् ॥९१॥

जब चित्त एकाग्र, स्थिर एवं निष्कम्प होता है तभी भगवान में प्रवेश करता है। दो अग्र (नोक) हो चंचल हो और हाथ भी कांपता हो तो अति श्रम करने पर भी धागा सूई के छेद में प्रवेश नहीं करेगा ॥ ९१ ॥

कामिन्यां जहिहि रतिं रतिं प्रपित्सु-
र्यद्युत्को भगवति निष्कयङ्कभावाम्।

न क्षीरं नवमपि तिन्तिडीरसेन
स्थातुं वै सह सहते कदाचिदेव ॥९२॥

यदि भगवान में निर्मल रति पाने के लिये उत्कण्ठित हो तो कामिनी कांचन रति छोड़ो। ताजा भी दूध इमली के रस के साथ नहीं रह सकता ॥ ९२ ॥

माधुर्यं रसयितुमेषि शर्करायाः
निर्व्याजं यदि हि पिपीलिके विलोले।
एतं तल्लवणकणं मुखे स्वकीये
निक्षिप्तं परिहर निर्विशङ्कमादौ ॥९३॥

अरी चंचल पिपीलिके! (चींटी) यदि शक्कर की मीठास सचमुच चखना चाहती है तो अपने मुंह में रखी हुई इस नमक की डली को पहले थूक दे॥ (अन्योक्ति)

व्याधूता अपि मकरन्दपानलुब्धा
नो माल्यं वनमधुमक्षिकास्त्यजन्ति।
आश्चर्यं मधु परिहाय पूतिगन्धी-
नीयन्ते बत गृहमक्षिका व्रणानि ॥९४॥

वन की मधुमक्खियां उड़ाने पर भी फूल नहीं छोड़ती। आश्चर्य है, ये घर की मक्खियां मधु छोड़ कर व्रणों के पीव में जा बैठती हैं। (वनस्थ और गृहस्थ के लिये अन्योक्ति) ॥ ९४ ॥

आपन्नोऽप्यरिनिकृतोऽपि सुप्रसन्नः
स्वात्मानं भज नृहरिं परं शरण्यम्।

मूढोऽयं विषयततिं शुनीमिव श्वा
ह्यन्वायन् मुहुरिव कश्मलं प्रयाति ॥९५॥

भले आपदायें घेर लें, शत्रु तिरस्कार करें फिर भी प्रसन्न होकर आत्मस्वरूप परमशरणदाता नरहरि भगवान को भजो। देखो यह मूढ-जन शुनी के पीछे श्वान के समान विषयों के पीछे पड़ कर दुर्दशा पा रहा है ॥ ९५ ॥

दृश्यं चेदभिलषसीक्षितुं मनोज्ञं
रङ्गस्थं परिहर तर्हि बाल निद्राम्।
पाणिभ्यां पृथुफलमङ्ग लब्धुमीष्टे
मुष्टिं किं दृढमविहाय कन्दुकीयम् ॥९६॥

हे बालक ! रंग-मंच का मनोज्ञ दृश्य देखना चाहते हो तो निद्रा छोडो (मोहनिद्रा छोड़ने पर ही भगवद्दर्शन होगा) बच्चा ! हाथ में गेंद मजबूती से पकड़ रखोगे तो तरबूज जैसा बड़ा फल हाथ में कैसे ले सकोगे ॥९६॥

तावदेव कलशः कलशब्दा-
नादधात निभृतो न हि यावत्।
प्रेमपूर्णहृदयस्य च शान्तिः
कर्मकाण्डकथया रहितस्य ॥९७॥

घड़ा तभी तक आवाज करता है जब तक पूरा भरा नहीं होता। प्रेम से जिसका हृदय भर जाता है वह कर्म-काण्ड की कथा से रहित होकर शान्त रहता है ॥ ९७ ॥

अस्तिता न पृथगस्ति महेशात्
कर्त्तृता क्व पुनरस्तु मदीया ।
इत्यजस्रभवभावयुतानां
कर्म संभवितुमर्हति कस्मात् ॥९८॥

परमेश्वर से पृथक् मेरा अस्तित्व ही नहीं तो कर्तृत्व कहां से आया ? स प्रकार भगवद्भाव से जो युक्त हैं उनका कर्म कैसे सम्भव है ॥ ९८ ॥

दर्शनीयमखिलं किल दृष्टं
प्रापणीयमखिलं समवाप्तम् ।
प्रेम चेतसि हि यस्य निविष्टं
कर्म तस्य भुवि किं न्ववशिष्टम् ॥९९॥

जिसके हृदय में प्रेम प्रविष्ट हुआ उसने दर्शनीय सब कुछ देख लिया, प्राप्तव्य सब कुछ पा लिया। उसके लिये संसार में कौन सा कर्म अवशिष्ट रह जायेगा ॥ ९९ ॥

यत्र नो भवति साधनभानं
साध्यभानमुत साधकभानम् ।
तादृशे समुदिते परमेश-
प्रेम्णि संभवतु कर्म कथं वा ॥१००॥

साधन, साध्य एवं साधक में भेद भान जिसमें समाप्त होता है। उस भगवत्प्रेम का उदय होने पर कर्म होगा भी कैसे ? ॥ १०० ॥

प्रेमभागपि तदास्पदमेवं
प्रेमरूपमखिलं च यदाभूत् ।
द्वैतभावरहितस्य किमस्य
कर्म संभवितुमर्हति तर्हि ॥१०१॥

प्रेमी, प्रेमास्पद एवं सर्व जगत् जब प्रेम रूप ही हो जाते हैं उस समय द्वैत भाव न होने से कर्म कैसे सम्भव हो ॥ १०१ ॥

भक्तिरीशपदवीमुपयाता
पूजनादिपरिहारनिदानम् ।
कौसुमान्यपि फलानि मृदूनि
प्रोद्गतानि कुसुमङ्गलयन्ति ॥१०२॥

परमेश्वर विषयक भक्ति तो यहां तक है कि पूजा पाठादि कर्मों को भी समाप्त कर देती है। फूलों से उत्पन्न हुए भी फल अन्ततः फूलों को गला ही देते हैं ॥ १०२ ॥



कर्माशर्मकरं श्रुताश्रुतवधैर्नानाविधैर्दूषितं
दुर्निवारविकारकारणतया योगोऽपि रोगोपमः ।
ज्ञानं शाणनिशानदुर्गममहानिस्त्रिंशधारायनं
प्रेमा केवलमेक एव भगवत्स्थेमाऽखिलक्षेमदः ॥१०३॥

कर्म मंगलकारी नहीं है। क्योंकि उसमें श्रुत एवं अश्रुत अनेक विध हिंसा होने से उससे वह दूषित है। योग भी अनिवार्य विकार हेतु होने से रोग समान ही है। ज्ञान तो शान पर तीखे किये दुर्गम तलवार का ही

मार्ग ठहरा। केवल भगवद्विषयक एक प्रेम ही ऐसा है जो सबका क्षेम करने वाला है ॥ १०३ ॥

यस्मिन् व्यक्तिमुपेयुषि स्वयमिवाभिद्यन्त पाशाः पितुः
कारागारकपाटपालकभटै रोद्धुं न शेके च यः।
प्रेमाख्येन निबध्य तं किल बलादानर्त्तयांचक्रिरे
दुर्भेदेन वटाकरेण नटवद् गोपाङ्गनाः स्वाङ्गने ॥१०४॥

जिस भगवान के प्रगट होते ही पिता वसुदेव की भी हथकड़ी-बेड़ी टूट गयी, कारागार के रक्षक जिसको रोक न सके, उसी भगवान् को प्रेमरूपी रस्सी से बांध कर गोपियों ने अपने आंगन में नचाया ॥ १०४ ॥

यं स्वैर्बन्धयितुं मदान्धहृदयो दुर्योधनो योधनै-
रुद्दामैरपि दामभिर्द्दढबलैर्नैवाशकत् पाशिकैः।
दाम्ना तं लघुना बबन्ध लघुना कोपेन गोपाङ्गना
धावन्तं कदुलूखले ननु बलं प्रेमाख्यदाम्नो बलम् ॥१०५॥

मदान्ध दुर्योधन अपने बलवान् पाशधारी योद्धाओं से भारी रस्सियों से भी जिसको बांध न सका उस भगवान को भागते समय पकड़ कर हलकी सी रस्सी से यशोदा माता ने कुछ कोप से एक छोटे ऊखल के साथ बांध दिया था। कहना होगा कि प्रेम रूपी पाश का बल ही सचमुच बल है ॥ १०५ ॥

संतप्तायां विरहगुरुणा व्याकुलीभावलक्ष्म-
ग्रीष्माऽसूक्ष्मप्रतिभयनिदाघोष्मणा चित्तभूमौ।
सिञ्चन् दृष्ट्या परमकरुणापूरपीयूषवृष्ट्या
धत्ते शान्तिं जलदवदसौ श्यामलाङ्गो मुरारी ॥१०६॥

व्याकुलता रूपी ग्रीष्मकालीन भयानक भारी उष्णता से चित्त भूमि जब संतप्त होती है तब श्यामलांग मुरारी श्याम मेघ के समान परम करुणा रूपी सुधा की वृष्टि से सींच कर उसमें शान्ति स्थापित करते हैं ॥ १०६ ॥

स्वर्गो मार्गति निःसुखः सुखमसौ वैकुण्ठमुत्कण्ठया
कैलासं स विलासमांसलमसौ गोलोकमालोकते ।
निःसृत्यैष गवेषयत्यनुकण ब्रह्माण्डभाण्डोदरे
धूत्कृत्यैव किलाखिलं हि विरही प्रेयांसमाशंसति ॥१०७॥

स्वर्गादि सभी पुराने होने पर फीके हो जाते हैं तब स्वर्ग (स्वर्गवासी) सुखहीन होकर वैकुण्ठ में उत्कण्ठापूर्वक सुख खोजते हैं। बैकुण्ठ (बैकुण्ठ वासी) भी निःसुख होकर आनन्दविलास युक्त कैलास की ओर देखने लगते हैं। कैलासवासी गोलोक की ओर ताकने लगते हैं। गोलोक वासी द्वापरान्त में ब्रह्माण्ड के कोने-कोने छान कर अन्ततः व्रज में पहुँच जाते हैं। किन्तु विरही भक्त समस्त लोक लोकान्तर को किनारे हटाकर केवल प्रीतम की आशामात्र में स्थित रहता है ॥ १०७ ॥

यज्ञादीनि धनाधिपैर्दृढबलैश्चान्द्रायणादीनि सं-
प्रज्ञातादिसमाधयश्च नियतप्राणैः प्रणेयेन्द्रियैः ।
स्वाध्यायः शितबुद्धिभिः परतरं ज्ञानं शमाद्यन्वितैः
संसाध्या भुवि मङ्गलास्पदपदा भक्तिः समस्तैरपि ॥१०८॥

यज्ञयागादि धनाढ्य कर सकते हैं। मजबूत शरीर वाले चान्द्रायणादि व्रत रख सकते हैं। प्राणायाम-प्रत्याहारादि में निपुण योगी संप्रज्ञातादि समाधि लगा सकते हैं। तीक्ष्ण बुद्धि वाले अध्ययन कर वेदपारंगत हो सकते हैं। शमदमादि साधनों से सम्पन्न मानव परम ज्ञान प्राप्त कर सकते

हैं। सर्वमंगलास्पद एक भक्ति ही भूतल में ऐसी है जिसे सभी प्राप्त कर सकते हैं ॥ १०८ ॥

नानाशास्त्रवितानकाननमहासिंहायमानः पुरा
व्याधुन्वन् विचचार यो बुधवरस्तम्बेरमान् भूरिशः ।
सर्वेशं प्रति संप्रति प्रतिपदं स्तव्यैः स्तुवन् स स्तवै-
स्तत्पादाम्बुजचञ्चरीकचरितं यातो यतिर्मङ्गलः ॥१॥

नाना शास्त्र विस्तार रूपी कानन में बड़े-बड़े विद्वद् हस्तियों को कुचलते हुए महासिंह के समान जो पहले विचरण करता रहा वह मङ्गल यति अब प्रतिपद उत्तम स्तुतियों से गुणगान करते हुए सर्वेश्वर भगवान् के प्रति भ्रमर भाव को प्राप्त हो गया जो भगवत् चरण कमलों में हो लगा हुआ है ॥ १ ॥

स दिव्यरसनिम्नगां हरिपदावलम्बोद्भवां
निधाय सविधीव मानसकमण्डलौ धातृवत् ।
सभक्ति चरणाब्जयोरविरतं हि तस्यैव तां
समर्प्य विरतस्त्विदं भवतु दिव्यपाद्यं हरेः ॥२॥

हरिचरण का ही अवलम्बन करने वाली और वहीं से उद्भूत आकाश गंगा को प्रथम ब्रह्मा जी ने अपने कमण्डल में विधिवत् धारण कर उसी से सभक्ति हरि चरणों में दिव्य पाद्य समर्पण किया था। वैसे मंगलयति मैं

श्री हरिचरणों के अवलम्बन से प्रकट हुई इस दिव्यरसतरङ्गिणी (गंगा) को विधिवत् हृदय कमण्डल में धारण कर उसी को उसी भगवान के चरणों में सभक्ति समर्पण कर उपरत होता हूं। यही भगवान् का परम दिव्य पाद्य हो।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य जयमङ्गलाचार्यमहा
मण्डलेश्वरश्रीकाशिकानन्दयतेः कृतौ दिव्यरसतरङ्गिण्यां
तृतीयाऽऽनन्दलहरी समाप्ता
समाप्ता चेयं दिव्यरसतरङ्गिणी

——:०:——

ग्रन्थकार के मुख्य प्रकाशन

जागदीशी सामान्यलक्षणा तत्वप्रदीपः	२५.००
वैराग्यमन्दाकिनी सानुवादा	दुष्प्राप्य
गोपीगीतं हिन्दी अर्थद्वयव्याख्या	,,
दश शान्तयः सानुवादाः	,,
दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्रं सवार्त्तिकं सानुवादं	,,
वेदान्तसिद्धान्तकुसुमाञ्जलि : सौरभव्याख्या	१२.००
शंकरदिग्विजय सानुवाद अजिल्द २०.०० सजिल्द	३०.००
नारदीयभक्तिसूत्रं सवार्त्तिकं सानुवादं	
प्रथमो भागः	१०.००
द्वितीयो भागः	१०.००
तृतीयो भागः	१०.००
भीष्म स्तुति प्रवचन (गुजराती)	दुष्प्राप्य
भागवतसारस्तोत्रं सानुवाद	१२.००
महिम्नः स्तोत्रं हरिहरपक्षीय हिन्दीव्याख्या, टिप्पणी	५.००
शिवमहिम्न स्तोत्रं स्पन्दवार्त्तिकं सानुवादं	३०.००
गीताप्रवचन सांख्यसंदर्भ पूर्वार्धं	३५.००
,, ,, (स्थितप्रज्ञदर्शनं) उत्तरार्धं	२५.००
,, ध्यानयोगसन्दर्भ पूर्वार्धं	३०.००
,, ,, उत्तरार्धं	२०.००
वेदान्तसिद्धान्तपीयूषबिन्दुः सानुवाद	१०.००
ईशावास्योपनिषत् शांकरभाष्यं सवार्त्तिकं सानुवादं अजिल्द ३०.००सजिल्द	४०.००
वेदान्तसारः वेदान्तमन्दारमाला च सानुवादौ	१२.००
सुभगोदयस्तोत्रम् अमृतझरिका व्याख्या, अन्तयार्थबोधिनी अजिल्द	३०.००
सजिल्द	४०.००
दिव्यरसतरङ्गिणी टिप्पणी कादम्बिनी	१२.००